

वर्ष ४२] * * * * [अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६०,०००

विषय-सूची

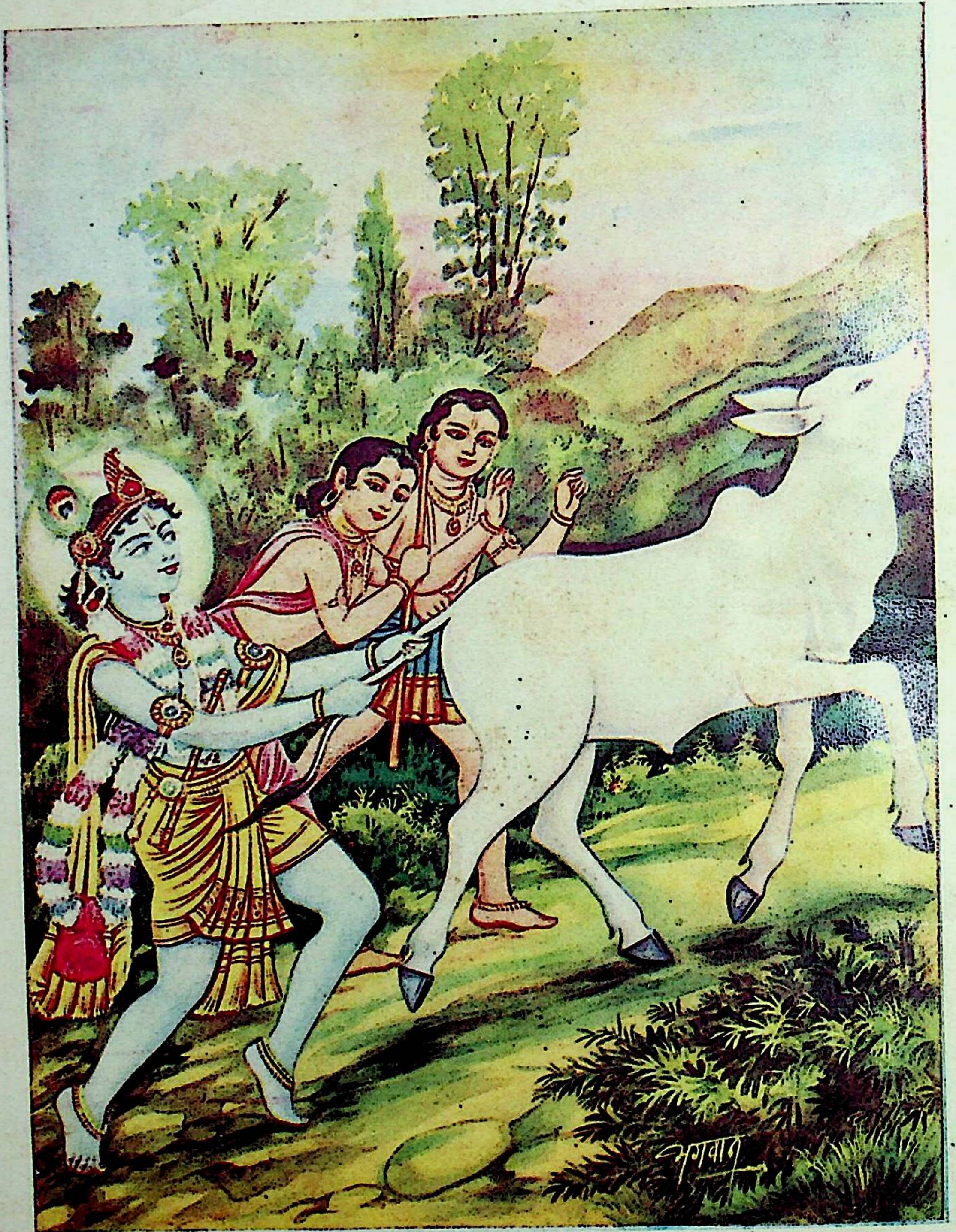
कल्याण, सौर आषाढ़ २०२६, जून १९६९

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० विदेशमें १३.३५ (१५ शिलिंग) जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ साधारण प्रति भारतमें ५० पै० विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



बालक श्रीव्रजचन्द्रकी बालक्रीड़ा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



कल्याण

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥

वर्ष ४३ } गोरखपुर, सौर आषाढ़ २०२६, जून १९६९ { संख्या ६ पूर्ण संख्या ५११

नन्दलालके विचित्र चरित्र

करत विचित्र चरित्र नित परम मधुर नँदलाल ।
बालसुलभ मनमोदमय अति अबोध सजि बाल ॥
खेलत, दौरत, हँसत, लै मधुर सखनि कौं संग ।
बछुरा कौं रोकन चहत पकरि पूँछ करि रंग ॥
जोर करत बहु, रुकत नहिं पै बछुरा बलवान ।
घसिटत ताके सँग चलत भाजत श्रीभगवान ॥
धन्य गोपबालक परम धन्य धन्य गोवत्स ।
जिनके सँग आनँद लहत अनवधि आनँद-उत्स ॥

याद रक्खो—जिसका चित्त अशान्त, सदा क्षुब्ध है, वह चाहे किसी भी ऊँची-से-ऊँची स्थितिमें हो, कभी सुखी नहीं हो सकता। मरते समय अन्तिम श्वासतक उसका चित्त अशान्त रहता है, फलतः वह दुःखी ही रहता है और यह अशान्ति तबतक मिट नहीं सकती, जबतक मनमें सांसारिक भोगोंकी—पदार्थों और परिस्थितियोंकी कामना है।

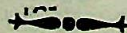
याद रक्खो—कामनाकी उत्पत्ति होती है आसक्तिसे। भोगासक्ति ही भोग-कामनाका उत्पत्तिक्षेत्र है। भोगासक्ति तबतक बनी रहती है, जबतक भोगोंमें सुखकी सम्भावना दीखती है। भोगसुखकी यह आस्था सर्वथा भ्रममूलक ही है; क्योंकि हम देखते हैं कि भोगप्राप्तिकी इच्छा होते ही जलन—दुःख आरम्भ हो जाता है। भोगोंकी प्राप्तिमें दुःख होता है, भोग प्राप्त होनेपर दूसरोंके पास अपनेसे अधिक भोग देखकर दुःख होता है, भोगकी शक्ति न रहनेपर दुःख होता है, भोगनाशमें दुःख होता है और भोगपदार्थोंको छोड़कर मर जानेमें दुःख होता है—इस प्रकार भोगमें दुःख-ही-दुःख है। इनमें सुख मानना सर्वथा भ्रम है। पर यह भ्रम जबतक बना है, तबतक दुःखपरिणामिनी भोगकामना बनी ही रहेगी।

याद रक्खो—जो मनुष्य विवेकके द्वारा अनित्य तथा अपूर्ण भोगोंमें दुःखका अनुभव करता है, उसके मनसे भोगकामना दूर हो जाती है। फिर वह भोगकी प्रतीक्षामें नहीं रहता। उसकी शान्ति तथा सुख भोगाधीन नहीं रहते। वह नित्य अपने आत्माकी शान्तिमें ही स्थित रहता है। उसे भोगस्पृहा नहीं होती, भोगोंमें ममता नहीं होती तथा दुःखमय जान लेनेपर भोगप्राप्तिमें अभिमान नहीं होता। इससे उसकी शान्ति स्वाभाविक तथा शाश्वती हो जाती है और फलतः वह नित्य सत्य अपरिवर्तनशील परम आनन्दका अनुभव करता है।

याद रक्खो—किसी भी ऊँचे-से-ऊँचे सम्राट्के पदमें, राष्ट्रकी अध्यक्षताके पदमें, ज्ञान-विज्ञान-ऐश्वर्यकी प्रचुरता तथा तज्जनित यश-कीर्तिमें, विद्या-बुद्धिकी विशालतामें और देवत्व-पदमें भी शान्ति तथा सुख नहीं है, यदि मनमें भोगकामना बनी है। कामना-जगत्में ऐसे पुरुषों-की कामना विशेष बढ़ जाती है और उन्हें पद-पदपर प्राप्त भोगके नाशका भय, विशेष प्राप्त करनेकी चिन्ता, न मिलनेपर भयंकर विषाद बना रहता है। उनके द्वारा उन प्राप्त भोगोंका दुरुपयोग होता है, उनसे नये-नये अपराध बनते हैं और परिणामस्वरूप उन्हें बलात् अधोगतिमें जाना पड़ता है। अतः प्रत्येक दृष्टिसे भोग-कामनाका त्याग आवश्यक है।

याद रक्खो—कामनाके त्यागका तथा परम शान्तिकी प्राप्तिका बड़ा सहज, सरल और आनन्दपूर्ण साधन है—भगवान्की मङ्गलमयतामें, उनके मङ्गलविधानमें विश्वास। हमारे लिये जो कुछ भी फलविधान होता है, वह उस नियन्त्रण करनेवाली भोगविधायिनी भागवती शक्तिसे होता है। वह भागवती शक्ति भगवान्की सहज करुणासे पूर्ण होती है, अतएव उसका प्रत्येक विधान करुणामय भगवान्के जीवमात्रके प्रति रहनेवाले सहज सौहार्दसे सम्पन्न होता है। हमारे उन सहज परम सुहृद् भगवान्की कृपासे हमारे लिये जो कुछ भी विधान होता है, वह निश्चय ही परम मङ्गलमय है। दीखनेमें कहीं भयानक दीखनेपर भी हमारा निश्चित परम कल्याण करनेवाला है। यह विश्वास होते ही परम शान्ति मिल जाती है और जहाँ शान्ति आयी कि वह परम सुख अपने-आप प्रकट हो जाता है, जो नित्य सत्य अखण्ड और असीम है।

'शिव'



एक महात्माका प्रसाद

(प्रेषक—श्रीमाधव)

सुख-दुःखसे अतीतके जीवनकी खोज

प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगसे साधक परिस्थितियों-से परेके जीवनमें प्रवेश कर सकता है। उस जीवनमें किसी प्रकारकी विषमता, अभाव, भय या जडता नहीं है। उस जीवनकी प्राप्ति प्रत्येक परिस्थितिके सदुपयोगसे हो सकती है। इस दृष्टिसे प्रत्येक परिस्थिति साधनमात्र है, साध्य नहीं। साधन-बुद्धिसे प्रत्येक परिस्थिति आदरणीय है। इस दृष्टिसे अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही समान हैं। जिस प्रकार यात्री दायें-बायें दोनों ही पैरोंसे चलकर अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचता है, उसी प्रकार साधक अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियोंके सदुपयोग-से अपने अभीष्ट लक्ष्यतक पहुँचता है।

सुख-दुःख अपने-आप आने-जानेवाली वस्तुएँ हैं। उनमें आबद्ध होना चित्तको अशुद्ध करना है। सुखमें उदारता और दुःखमें त्याग अपना लेनेपर सुख-दुःखका बन्धन स्वतः टूट जाता है। भोगकी रुचिका नाश भोगकी वास्तविकता जान लेनेपर स्वतः हो जाता है। योगकी लालसा भोगकी रुचिका अन्त करनेमें समर्थ है। प्रतिकूलता जीवनमें केवल योगकी लालसाको प्रबल बनानेके लिये आती है। योगकी लालसा भोगकी रुचिको खाकर योगसे अभिन्न कर देती है।

सुखके आदि और अन्तमें दुःख है। यदि उस दुःखका प्रभाव इतना हो जाय कि सुखकी लोलुपता मिट जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख-दुःखसे अतीतके जीवनमें प्रवेश हो सकता है। सुखकी आसक्ति और दुःखके भयने ही चित्तको अशुद्ध कर दिया है। चित्त शुद्ध करनेके लिये यह अनिवार्य है कि दुःखके महत्त्वको अपना लिया जाय। इससे सुखकी दासता स्वतः मिट जायगी।

दुःखका भय और सुखकी दासता सुख-दुःखका सदुपयोग नहीं होने देते। अतः दुःखके भय तथा सुखकी दासताका अन्त करना अनिवार्य है। सुखसे अतीतके जीवनकी जिज्ञासा भी सुखके रागको खा लेती है। सुख-दुःखसे अतीतके जीवनका विश्वास भी सुख-दुःखसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेमें समर्थ है। उपर्युक्त तीनों बातोंमेंसे जिस साधकको जो सुगम हो, उसे वही अपना लेना चाहिये। किसी एकके भी अपना लेनेसे सफलता हो सकती है।

—ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

परमानन्द

सुख-दुःखोंसे रहित भागवत-जीवन ही है 'परमानन्द'।
प्रभुकी शुभ संनिधि है जिसमें नित्य बनी रहती स्वच्छन्द ॥
इन्द्रिय-मन-मति-चित्त सभी नित रहते प्रभु-सेवा-संलग्न।
रहता जीवन नित्य दिव्य भगवद्-रस-सुधा-समुद्र निमग्न ॥
रहता नहीं तनिक भी प्राकृत जगका कहीं पृथक् अस्तित्व।
रह जाता, बस, एकमात्र सच्चिदानन्दमय भगवत्तत्त्व ॥

ब्रह्मलीन परम पूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतमय उपदेश

[पुराने पत्र]

(१)

सादर प्रणाम ! आपका पत्र ता० २० । ४ । ५७ का यथासमय मिला। समाचार विदित हुए। आपने मेरी प्रशंसाकी बातें लिखीं, वे नहीं लिखी जानी चाहिये; क्योंकि इसमें मेरा कोई हित नहीं है। मेरे प्रश्नोत्तरको पढ़कर आपको जो कुछ लाभ हुआ है, वह आपकी ही शुभ भावनाका और प्रभुकी अहैतुकी कृपाका फल है; उसमें मेरा कुछ नहीं है। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) अनुजवधू अपने पतिके बड़े भाईको प्रणाम करे, यह उचित ही है; क्योंकि जो-जो उसके पतिके पूज्य हैं, वे सब पतिके नाते उसके भी पूज्य हैं।

स्त्रीका गुरु पतिदेव है। इसके अतिरिक्त उसके पतिका गुरु भी पतिके नाते उसका गुरु है ही। इस परिस्थितिमें उसे अलग गुरु बनाना आवश्यक नहीं है। किंतु पतिके गुरुके भी चरणोंका स्पर्श तो किसी भी हालतमें नहीं करना चाहिये, दूरसे ही प्रणाम कर लेना चाहिये; क्योंकि विवाह होनेके बाद स्त्रीको अपने पतिके अतिरिक्त किसी भी अन्य पुरुषके किसी भी अङ्गका स्पर्श नहीं करना चाहिये, यह नियम है। स्त्रीके लिये पतिके सिवा अन्य पुरुषके तेल-मर्दन करना सर्वथा अनुचित है।

(२) संसार यदि यमपुरीके समान भयानक प्रतीत होता हो तो उससे सब प्रकारके स्वार्थका परित्याग करके उसकी सेवा कीजिये। तब वह आपको वैकुण्ठपुरी-सा प्रतीत होने लग सकता है। अपना चित्त शुद्ध करनेके लिये प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। परिस्थितिका परिवर्तन करना मनुष्यके हाथकी बात नहीं है। संसार छोड़कर जानेके लिये कोई स्थान नहीं है। जहाँ आप जायँगे, वहाँ आपके मनमें निवास करनेवाला संसार आपके साथ रहेगा ही; क्योंकि राग-द्वेषके रहते हुए संसारसे सम्बन्ध नहीं छूट सकता। एकमात्र प्रभुको अपना मानने और अन्य किसी भी प्राणी और पदार्थ आदिको अपना न मानकर राग-द्वेषसे सर्वथा रहित होनेपर ही संसारसे सम्बन्ध छूट सकता है।

जिन विघ्न-बाधाओंसे भयभीत होकर आप घर और गाँवको छोड़कर वनमें रहना चाहते हैं, उनकी वहाँ भी कमी नहीं है। विघ्न-बाधाओंका कारण आपके मनमें है, घर-गाँवमें नहीं।

लोग आपको यदि मिथ्याचारी और ढोंगी बताते हैं तो इसमें अशान्ति और व्यग्रता बढ़नेका कोई भी कारण नहीं है। ऐसे अवसरमें तो अपने प्रभुकी विशेष कृपाका अनुभव करना चाहिये और ऐसा कहनेवालोंका उपकार मानकर उनपर प्रसन्न होना चाहिये; क्योंकि जबतक साधक गीता-रामायणका पाठ करते हुए भी उनके उपदेशपर अमल नहीं करता, वह मान-अपमानमें सम नहीं हो जाता, उसके राग-द्वेष नष्ट नहीं हो जाते, तबतक वह ढोंगी नहीं तो क्या है ? ऐसा अनुभव करके उन चेतावनी देनेवालोंको अपना हितैषी मानना चाहिये एवं अपनेमें किसी भी गुणका अभिमान हीं करना चाहिये। गुणका अभिमान सब दोषोंकी जड़ है। अपने दोषोंको देखना ही उनके नाशका उपाय है। परदोषदर्शन और किसीपर दोषका आरोप—यह साधनमें बड़ा भारी विघ्न है।

(३) आपने लिखा कि मैंने अभीतक गुरु-मन्त्र नहीं लिया है तो क्या आपने ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होनेके नाते यज्ञोपवीत भी नहीं लिया है ? यदि न

लिया हो तो शीघ्र ही ले लेना चाहिये। यदि ले लिया तो गुरुके द्वारा गायत्री-मन्त्र भी आपको मिल ही गया, फिर दूसरा गुरु-मन्त्र लेनेकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि गायत्रीसे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है। भाईजी-से नम्रतापूर्वक प्रार्थना कर देनी चाहिये कि मैंने एक गुरु बना ही लिया है, अब दूसरा गुरु बनानेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण तो परम गुरु हैं ही। उनको गुरु मान लेनेपर तो अन्य गुरुकी आवश्यकता ही नहीं होती। दूसरे गुरु भी प्रभुसे सम्बन्ध जोड़ देनेके नाते ही तो गुरु माने जाते हैं।

(४) गीताके दूसरे अध्यायके २२वें श्लोकके सम्बन्धमें जो आपका प्रश्न है, उसपर आपको स्वयं विचार करना चाहिये। उसमें 'आत्मा' पद नहीं है, 'देही' पद है। उसका अर्थ होता है—जिस शरीरका नाश होता है, उसमें रहनेवाला या उसका स्वामी। अतः सर्वव्यापी आत्मा एक शरीरसे निकलकर कहाँ जाता है, यह प्रश्न नहीं बन सकता। जिन शरीरोंके सम्बन्धसे अपरिच्छिन्न सर्वव्यापी आत्मा परिच्छिन्न और एकदेशीय-सा प्रतीत होता है, वे तीन शरीर हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। उनमेंसे केवल स्थूल शरीरका ही नाश होता है, सूक्ष्म और कारणका नहीं; उन दोनोंका सम्बन्ध रहता है। इसी कारण गीताके १५वें अध्यायके ८वें श्लोकमें कहा है कि जब यह एक शरीरको छोड़कर जाता है, तब मन और इन्द्रियोंको साथ लेकर जाता है।

'आत्मा बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है, कोई स्थान खाली नहीं है'— यह बात तो ठीक है, पर शायद यह आपका अनुभव न हो। अनुभव होनेके बाद जब ऐसी वास्तविक स्थिति हो जाती है, तब तत्काल समस्त शरीरोंका सम्बन्ध टूट जाता है; उसे पुनः कहीं जाना नहीं पड़ता। जबतक मोह-ममताके कारण शरीरसे सम्बन्ध है, तबतक ही जाना-आना है।

(५) रामायणकी चौपाईके विषयमें यह उत्तर दिया जाता है कि राक्षसलोग भयके कारण भगवान्‌का चिन्तन करते हुए मरे थे, इस कारण उनकी शरीरोंमें स्थिति नहीं रही थी, इसलिये वे जीवित नहीं हुए, मुक्त हो गये। किंतु वानर मरे थे राक्षसोंके हाथसे, उनके मनमें श्रीरामसेवाकी वासना थी; वे मुक्ति नहीं चाहते थे, इस कारण वे वहीं रहे और अमृतकी वर्षासे जी उठे। अतः इसमें अमृतकी विषमताका कोई प्रश्न नहीं रह जाता।

(२)

सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र मिला। पहले तुम्हारा जो पत्र आया था, उसका उत्तर दे दिया गया था, पता नहीं तुम्हें किस कारणसे नहीं मिला। मन न लगनेका कारण तो अनुकूल परिस्थितिकी कामना हो सकता है। अतः कामनाका त्याग करना आवश्यक है। पत्रका उत्तर देनेमें विलम्ब तो समय कम मिलनेके कारण हो जाता है, इसमें कोई रहस्य नहीं है। हरेक परिस्थितिमें प्रभुकी कृपा अवश्य रहती है, इसमें कोई संदेह नहीं। इस रहस्यको समझकर साधकको वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये, उसमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। मन तो यन्त्र है, उसका कोई दोष नहीं होता। उसका स्वभाव तो मनुष्यका ही बनाया हुआ है।

········के पास, तुम और····गये, सत्संगकी बातें हुईं सो अच्छी बात है। आपसमें मिलकर परस्पर सत्संगकी चर्चा करनेमें बहुत लाभ है। पर उसमें प्रसन्नताका लोभ रहना हितकर नहीं है।········का प्रश्न और तुम्हारा उत्तर सुना। कल्याण अर्थात् मोक्ष होनेके बाद किसी प्रकारका भेद उनके लिये नहीं रहता—यह सर्वथा ठीक है। मेरा यह अन्तिम जन्म है—यह मानना बहुत अच्छा है, परंतु किसी प्रकारकी सांसारिक कामना नहीं रहनी चाहिये। केवल कथन-मात्रसे कल्याण नहीं है। जो कोई कामना या आसक्ति रहते हुए मरेगा, उसका पुनर्जन्म अवश्य होगा।

कामनाका सर्वथा नाश हो जाना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है और इसके लिये ही सब प्रकारके साधन हैं। मेरे अधिक सम्पर्कमें रहनेसे भी कल्याण हो जाय—ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार सेवा-विभागमें काम करना भी भावके अनुसार लाभ देता है। बिना निष्काम-भावके वह भी कल्याणका हेतु नहीं है। हरेक साधन निष्काम होनेपर ही कल्याणकारक होता है। कल्याणमें क्रिया या परिश्रमकी प्रधानता नहीं है, न वस्तु या शास्त्रज्ञानकी प्रधानता है। कल्याणके लिये तो निष्काम भाव चाहिये। दृढ़ विश्वास, भगवान्‌की दयाका अनुभव और प्रेम—ये सब भाव हैं। भावके अनुरूप कर्म तो अपने-आप होते रहते हैं। उनमें करनेका अभिमान तो कल्याणमें विघ्न है। करोड़ों रुपये हो जानेका उदाहरण इस विषयमें समीचीन नहीं है, क्योंकि रुपयेका होना तो कर्माधीन है; पर कल्याणका होना कर्माधीन नहीं है।

एक साधक यदि साधनद्वारा कल्याणकी ओर बढ़ रहा है तो उसके जीवनसे दूसरे साधकोंका भी विश्वास बढ़ता है, साधनमें रुचि होती है। उसके सदाचार और भावोंका जन-समाजपर जो प्रभाव पड़ता है, वह साधनरहित जीवनसे नहीं पड़ता। साधनयुक्त जीवनसे यदि वह जीवन्मुक्त हो जाता है तो उसके जीवनसे जो अलौकिक हित होता है और होता रहता है वह लाभ साधन बिना किये ही मुक्त होनेवालेके जीवनसे नहीं हो सकता—यह बड़ा भारी भेद है।

वास्तवमें तो बात यह है कि साधनमें परिश्रम है ही नहीं। जिसे साधन भाररूप मालूम होता है, जो उसको बेगार समझता है, उसने साधनके महत्त्वको नहीं समझा एवं साधन करना भी उसकी समझमें नहीं आया। कल्याणके साधनमें तो आनन्द-ही-आनन्द है। उसमें थकावटके लिये कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि परिश्रमरहित होना ही कल्याणका वास्तविक साधन है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-भय—ये तो साधनमें विघ्न हैं। इनके रहते हुए मनुष्य साधनपरायण नहीं हो सकता।

तुम्हारी यह मान्यता बहुत ठीक है कि जबतक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रभु-चरणोंमें समर्पित होकर समाप्त न हो जाय, तभीतक झंझट प्रतीत होता है। यह भाव मनहीतक न रहकर अन्तरात्मातक पहुँच जाय तो देरका काम नहीं है। भगवान् तो हर समय सबको अपनेमें लेनेके लिये तैयार ही हैं। इतना ही नहीं, लिये हुए ही हैं। देर तो साधककी ओरसे अहंता-ममताका त्याग न करनेकी है।

········ने जो भगवान्‌की कृपाकी बात बतायी सो उनकी कृपाकी महिमा अपार है। वह निरन्तर साधकको हरेक घटनाद्वारा अपनी ओर आकर्षित करती है। साधक घटनाके परिणामपर दृष्टि न देकर अर्थात् उसके अर्थको न अपनाकर घटनाके चिन्तनमें और सुख-दुःखके प्रभावमें पड़कर अपने जीवनको प्रभुकृपापर नहीं छोड़ता—बस, यही विलम्बका कारण है। कृपानिर्भर साधकका जीवन बदलते देर नहीं लगती। उसके जीवनमें अनुकूलताकी आशा नहीं रहती। वह तत्काल ही निश्चिन्त और निर्भय हो जाता है। भविष्यकी आशा करके वह विरह-व्यथाको दबाता नहीं। विरह-व्याकुलताको शिथिल न करके मनुष्य बहुत शीघ्र प्रभुके समीप पहुँच सकता है। × × × × सबसे राम राम।

(३)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

गीतामें जिस 'काम'को भगवान्‌ने नरकका द्वार बताया है, वह है—विषयभोगोंकी कामना। उसका वर्णन गीतामें अनेक स्थलोंपर आया है (गीता १६। २१)। इसके पहले जहाँ कामको अपना स्वरूप बतलाया है (गीता ७। ११), वहाँ उसके साथ विशेषण लगा

दिया है—'धर्माविरुद्धः'—अर्थात् जो धर्मानुकूल काम है, जो भोग-कामना नहीं है, किंतु धर्म-रक्षाके लिये कर्तव्यबुद्धिसे जो कामना होती है, जिसमें स्वार्थ या भोगकी गन्ध भी नहीं है, वह काम भगवान्‌का स्वरूप है।

इसके बाद आपके चार प्रश्न और हैं, उनका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) आपकी यह चाह कि इस जीवनको निष्फल नहीं गवाँना है, इस जीवनका सही ध्येय प्रभु-दर्शन है, बहुत ही ठीक है। इस विश्वास और इच्छाको सबल और स्थायी बनाइये। इसकी विरोधी सभी मान्यताओंको त्यागकर सांसारिक भोगकी आशा और दुःखके भयका नाश कर देना ही विश्वासको पुष्ट और दृढ़ करनेमें मदद करनेवाला है।

(२) भोगोंमें सुख है ही नहीं—यह विचारपूर्वक समझकर निश्चय करना चाहिये। विचार करनेपर यह ज्ञात हो सकता है कि भोगोंमें सुखकी प्रतीति प्रमाद और अज्ञानजनित है। वास्तवमें भोगोंमें सुखकी गन्ध भी नहीं है। भोगोंकी चाहका दुःख पहले हुए बिना तो उसमें सुखकी प्रतीति भी नहीं हो सकती। इन्द्रियोंके साथ इच्छित भोगका संयोग सदैव रह नहीं सकता; क्योंकि सभी भोग क्षणभङ्गुर हैं। भोगोंके अभावकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। उत्तरोत्तर तृष्णा बढ़ती रहती है। अभाव किसीको प्रिय नहीं है, अतः विषयोंसे सुखकी आशा करना सर्वथा प्रमाद है, और कुछ नहीं।

(३) विषयोंसे अलग रहनेका संकल्प इसलिये पूरा नहीं हुआ कि उनका महत्त्व मनसे अलग नहीं हुआ। विषयोंके उपलब्ध रहते हुए ही यदि उनमें सुखबुद्धि न रहे, उनका यथार्थ स्वरूप समझ लिया जाय तो फिर उनका सदुपयोग तो न्याययुक्त होना सम्भव है; किंतु उनमें आसक्ति नहीं रह सकती। विषयोंसे सर्वथा अलग कैसे रहा जा सकता है ! कहीं भी रहें, इन्द्रियाँ तो अपना-अपना काम करती ही रहेंगी। देखना, सुनना, स्पर्श करना, स्वाद लेना और गन्धको ग्रहण करना इन्द्रियोंका स्वभाव है। इनकी अनुकूलता और प्रतिकूलतामें सुखी-दुखी होकर राग-द्वेष करना ही बन्धन है। अतः राग-द्वेषका न रहना ही वास्तविक सम्बन्ध-त्याग है।

(४) सांसारिक भोगोंके सुखके बढ़नेकी इच्छा न रहनेपर भी यदि उनको सुरक्षित रखनेकी इच्छा है, मनमें उनका महत्त्व है, उनसे सुखकी आशा है तो सुनी-सुनायी बातोंपर किये हुए पश्चात्ताप और संयमसे रागका समूल नाश नहीं हो सकता, अतः वास्तविक लाभ नहीं होता। इसलिये संयम करना तो अच्छा है, पर न तो संयमका अभिमान अच्छा है और न भोगोंमें सुखबुद्धि रखना ही अच्छा है। संयम स्वतः हो, करना न पड़े, वही सर्वश्रेष्ठ है।

(४)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। उत्तर इस प्रकार है—

ईश्वर एक ही है। वही निर्गुण है और वही सगुण है। सर्वव्यापी सर्वसमर्थ प्रभु ही श्रीराम, श्रीकृष्ण-के रूपमें समय-समयपर प्रकट हुआ करते हैं। इस रहस्यको समझ लेनेपर दोनों स्वरूपोंकी उपासना एक साथ चलनेमें कोई अड़चन नहीं आती।

निर्गुण ब्रह्मका ध्यान शरीरमें अहंता-ममता रहते हुए होना कठिन है, अतः पहले शरीरसे आत्माको अलग अनुभव करके सर्वव्यापी परमात्माका ध्यान करना चाहिये। परमात्मा जैसा अपने शरीरमें है वैसा ही सबमें है।

शरीर, कुटुम्ब और धनमें आसक्ति इसलिये रहती है कि आप उन सबको अपना मानते हैं एवं उनमें आपकी सुखबुद्धि है। किंतु वास्तवमें इनमें सुख

नहीं है; क्योंकि ये सदा रहनेवाले नहीं, नाशवान् और क्षणभङ्गुर हैं, इनकी तृष्णा नित्य नयी बढ़ती रहती है एवं तृष्णा रहते हुए सुख और शान्ति कैसे मिल सकती है ? यह समझमें आ जाय या विश्वास हो जाय तो इनमेंसे ममता निकाल लेनेपर इन सबकी आसक्तिका नाश हो सकता है । जबतक आप कुटुम्ब और धनसे सुखकी आशा रक्खेंगे, तबतक इनका मोह और आसक्ति नष्ट नहीं हो सकते ।

ईश्वरका निरन्तर भजन-ध्यान करनेमें कोई परिश्रम नहीं है । बलके प्रयोगसे मन स्थिर नहीं होता । इसी कारण बलपूर्वक किये जानेवाले साधनमें थकावट आती है और रुचि नहीं बढ़ती । फलतः श्रद्धा भी कम हो जाती है । अतः साधन प्रकृतिके अनुकूल सरल, रुचिकर और विश्वासपूर्वक होना चाहिये ।

साधनमें अरुचि और परिश्रम रहते हुए उन्नति नहीं होती । अतः ऐसा विश्वास करना चाहिये कि ईश्वर है और वही मेरा अपना है, वही सर्वस्व है, उसके सिवा किसीसे भी मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, माना हुआ सम्बन्ध है । यह दृढ़ विश्वास होनेपर प्रभुमें प्रेम होनेसे जो उनका भजन-स्मरण होता है, उसमें थकावट नहीं होती । भगवान्‌में प्रेम होना ही उनकी शीघ्र प्राप्तिका सरल उपाय है । इसमें जो कुछ देर हो रही है, वह साधककी असावधानीसे ही हो रही है । वह जब चाहे संसारसे निराश होकर प्रभुको प्राप्त कर सकता है ।

सत्संग-वाटिकाके बिखरे सुमन

१—भजन अखण्डित हो, इसका प्रयास करना चाहिये । पहले अभ्यास करना पड़ता है । अभ्यासमें जबतक पूरा रस नहीं आता, तबतक कुछ बल लगाना पड़ता है । बाहरकी ओर जाती हुई वृत्तियोंको जबरदस्ती रोकना है, दमन करना है उनका । दमनका नाम ही 'तप' है । इसके लिये आरम्भमें कठोर नियमोंका पालन करना पड़ता है ।

२—रुचिकी वस्तु बाहरसे कष्टदायक होनेपर भी अन्तरसे सुखदायक होती है । नियमोंके पालनके प्रति रुचि होनेसे उनके निर्वाहमें प्रसन्नता होती है । आरम्भमें जबतक रुचि न हो, तबतक जबरदस्ती करनी पड़ती है—'यह करना ही है, इतनी देरतक अमुक साधन करना ही है ।'

३—फलकी प्राप्ति अपने हाथमें नहीं है, किंतु कर्मका सम्पादन जबतक इन्द्रियाँ सशक्त हैं तबतक अपने हाथमें है । इसमें बाधक होता है अपना ही बिना विजय किया हुआ मन । अतः नियम लेकर भजन करना चाहिये । दृढ़ निश्चय होनेपर प्रकृति एवं भगवान् सहायता करते हैं । दृढ़ निश्चय ही तप है और वह करनेकी चीज है । अतएव साधनाकी सिद्धिके लिये इच्छापूर्वक कष्ट सहन करना चाहिये तथा साधनाके नियमोंका कठोरतापूर्वक पालन करना चाहिये ।

४—अपने दोषोंको मनुष्य जब स्वयं सहन कर लेता है, तब दोष रह जाते हैं । मनुष्य यदि अपना सुधार चाहता है तो अपने दोषोंको कभी सहन न करे, अपनेपर कभी दया न करे । दूसरेके दोषोंको क्षमा करे, पर अपने दोषोंके लिये अपनेको कड़े-से-कड़ा दण्ड दे । अपने लिये नियम-पालन बड़ा कड़ा होना चाहिये । कड़ाईसे यदि साधनाके नियम पालन किये जायँ तो उसमें प्रारब्ध भी बाधक नहीं हो सकता ।

५—भगवान्‌की कृपाके बलको साथ रखकर दृढ़तासे भजनमें लगा रहे तो शुभ-अशुभ कर्मफलसे मुक्ति अपने-आप मिल जाती है ।

६—भगवान्‌का सौहार्द साथ हो, वह है ही—'सुहृदं

सर्वभूतानाम्' और अपनी इच्छा हो तो भजनमें कोई भी बाधक नहीं हो सकता। जितने भी कठिनाइयोंके किले हैं, वे भगवान्‌की कृपासे अपने-आप पार हो जाते हैं—'**सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।**'

७—भगवान्‌की कृपापर विश्वास हो और दृढ़तासे भजनमें लगा जाय तो भजन होगा ही; कोई भी बाधा भगवान्‌की कृपाके सामने टिक नहीं सकती।

८—साधककी दृष्टिसे भोगका अर्थ है—दुःख और भोगोंकी चाहका अर्थ है—दुःखोंको बुलावा देना। भोग दुःखोंके खेत हैं। दुःखोंके खेतसे सुखकी आशा करना निराशा है।

९—जहाँ प्रकृतिका आश्रय है, वहाँ पूर्ण सुख, पूर्ण शान्ति हो ही नहीं सकती। जबतक प्रकृतिके बदलनेवाले, मिटनेवाले एक दूसरेके विरोधी द्वन्द्वोंमें मनुष्य स्थित है, तबतक वह सुखी नहीं हो सकता।

१०—मनुष्य-जीवनमें एक बहुत बड़ा खतरा है, जो दूसरे जीवनमें नहीं है। दूसरे जीवनोंमें कर्मोंका भोग होता है, वहाँ नवीन पापकर्म नहीं होते। परंतु मनुष्य-जीवनमें नवीन पापकर्म बन सकते हैं और उन्हें भोगना पड़ता है।

११—और सब हानियाँ भरी जाती हैं, पर मानव-जीवनकी व्यर्थताकी, अनर्थताकी हानि कभी भरी नहीं जा सकती।

१२—संत एवं शास्त्र कहते हैं—'घरको घर मत समझो'। पर हम तो बिना हुए घरको भी अपना घर मान लेते हैं। धर्मशालामें दस-पंद्रह दिन ठहर गये तो उसके उस कमरेको अपना घर मान लेते हैं। यह अज्ञान है। अतएव इस अज्ञानको दूर करना चाहिये और 'मेरा संसार, मेरा घर, मेरा परिवार, मेरा गृहस्थ, मेरा आश्रम'—इस प्रकारकी ममता मत करो। हम भगवान्‌मेंसे आये हैं और लौटकर हमें भगवान्‌में जाना है। यह जीवन तो बीचका पड़ाव है। जैसे रेलके डिब्बेमें विभिन्न स्थानोंके व्यक्तियोंका आपसी सम्बन्ध हो जाता है, ठीक वैसे ही हमारा घरके व्यक्तियोंके साथ सम्बन्ध है। हमारा घर रेलका डिब्बा है, मुसाफिरखाना है, धर्मशालाका कमरा है। यही समझकर घरमें, घरके व्यक्तियोंके साथ व्यवहार करना चाहिये। यदि संसार एवं घरको अपना मान लेते हैं तो ममता होती है, राग-द्वेष होता है, पाप होते हैं और दुःख होता है। जिसका जगत् घर नहीं रहता, उसके भगवान् घर हो जाते हैं।

१३—घरको घर न मानकर धर्मशालाका कमरा, मुसाफिरखाना, रेलका डिब्बा मान ले और उसमें ममता न करे—बस, इतना करना है।

१४—जहाँतक हम संसारमें बसे हैं, वहाँतक हम भगवान्‌से अलग हैं। जहाँ हम संसारसे निकले कि भगवान् हमें अपने घरमें बसा लेंगे। उनका घर है—उनका हृदय।

१५—समझदार व्यक्ति वह है जो भगवान्‌को अपना बना लेता है। जगत्‌की कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। प्यारी-से-प्यारी वस्तु यह शरीर भी अपना होकर नहीं रहता, छूट जाता है। दूसरेकी वस्तुको अपनी मान लेना मूर्खता ही नहीं, पाप है। जगत्‌की प्रत्येक वस्तु भगवान्‌की है। जबतक हम उन्हें 'अपनी' माने हुए हैं, तबतक हम अपराध करते हैं।

१६—भगवान् हमें 'अपना' बनानेको तैयार हैं और भगवान् मिलते हैं 'अपना' माननेपर ही।

१७—अनुकूलताकी आशा तथा प्रतिकूलताका भय और उसकी अनुभूति साधकके जीवनमें नहीं होनी चाहिये। मनुष्य दुखी क्यों है? प्रतिकूलताकी अनुभूतिसे। मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रतिकूलतासे छूटनेका प्रयत्न करता है, त्यों-त्यों प्रतिकूलता उसे अधिक घेरती जाती है; क्योंकि जगत्‌का स्वरूप ही अनित्य एवं

दुःखमय है। उसमें प्रतिकूलता कभी मिट नहीं सकती।

१८–शुभ और अशुभ—इन दोनोंकी कोई खास परिभाषा नहीं है। हमारा मन अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलताकी धारणासे इन दोनोंकी कल्पना करता है। जब चोर चोरी करने जाता है, उस समय उसके अनुकूल परिस्थिति मिलना, अर्थात् सबका सोये हुए मिलना, आसानीसे ताला खुल जाना आदि परिस्थितियाँ उसकी दृष्टिमें शुभ हैं। पर ये ही परिस्थितियाँ, जिसके घरमें चोरी होती है, उसके लिये अशुभ हैं। इसी प्रकार भोगोंकी ओर जाता हुआ मानव यदि किसी प्रकारसे भोगोंसे वञ्चित कर दिया जाय तो वह उसके लिये अशुभ है कि शुभ ? पर वास्तवमें जन्मकी भाँति मृत्यु भी मङ्गलमयी है। चिताकी अग्नि एवं प्रसूतिगृहके दीपकी ज्योतिमें कुछ भी अन्तर नहीं है, दोनों समान हैं। दोनों ही भगवान्‌के स्वरूप हैं। अतएव साधकको शुभ-अशुभकी कल्पनासे ऊपर उठना चाहिये और प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌के मङ्गलमय स्वरूपके दर्शन करने चाहिये।

१९–भगवान्‌को जो अपना मान लेता है, भगवान् उसे स्वीकार कर लेते हैं। भगवान्‌के सब अपने हैं, वे सबके अपने हैं। पर जो भगवान्‌को अपना मान लेता है, भगवान् उसे ही स्वीकार करते हैं। भगवान् स्वीकार करनेके बाद किसीको छोड़ना नहीं जानते। एक बार जो उन्हें अपनेको पकड़ा देता है, वह फिर कभी चाहे भी तो भगवान् उसे छोड़ते नहीं।

२०–भगवान्‌की अखण्ड स्मृति और अखण्ड स्मृति न होनेकी दशामें व्याकुलता—ये ही दो बातें होनी चाहिये।

२१–मनमें भगवान् आ जायँ या मन भगवान्‌को दे दें—ये दोनों ही स्थितियाँ बड़ी ऊँची हैं। पर इससे भी ऊँची स्थिति और है, जहाँ प्रेमियोंके भरे हुए मनके स्थानपर भगवान्‌का मन आकर बैठ जाता है, भगवान्‌का मन ही उनका मन बन जाता है। इसी प्रकार भगवान्‌का शरीर ही प्रेमीका शरीर बन जाता है और प्रेमीमें भगवान्‌का मन एवं शरीर कार्य करते हैं। इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

२२–एक सुखका रोना होता है, एक दुःखका रोना होता है। एक भगवान्‌के लिये भी रोना होता है। यह पहले दोनों प्रकारके रोनेसे श्रेष्ठ है। पर भगवत्प्रेमीका रोना इन तीनोंसे पृथक् है। वह इतना मधुर, इतना पवित्र होता है कि वह त्रिभुवनको पवित्र कर देता है।

२३–भगवत्प्रेमीकी यह अनुभूति होती है कि भगवान् मेरे सिवा किसीको जानते ही नहीं। अतएव वे मुझसे कैसे हट सकते हैं। तथा मैं भगवान्‌के सिवा किसीको जानता नहीं। अतएव मैं भगवान्‌से कभी अलग हट नहीं सकता।

२४–मनुष्यका मरना ऐसा होना चाहिये कि जिसमें जीवको फिर मरना न पड़े; उसकी यह अन्तिम मृत्यु हो जाय।

२५–मृत्यु नहीं मारती; मनुष्य अपने कर्मसे आप मरता है। जिसने जन्म धारण किया है, वह मरनेसे बचना चाहे तो नहीं बच सकता। हाँ, उसे फिर न मरना पड़े, ऐसा वह कर सकता है।

२६–मन जगत्‌से निकलकर भगवान्‌में लग जाय, जगत्‌में मन भटके नहीं, भगवान्‌में अटक जाय, बस, इतना करना है।

२७–मन बार-बार जिसका चिन्तन करता है, उसमें उसकी आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, फिर चाहे वह शुभका चिन्तन हो या अशुभका। आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है और कामनासे पाप होते हैं। अतएव जगत्‌के एवं विषयोंके चिन्तनके बदले भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये।

२८—जिसके पास जो चीज है, वह वही चीज बाँटता है—जानमें, अनजानमें। जिसके पास भगवान् हैं, वह भगवान्को बाँटता है; जिसके पास असुर है, वह असुर बाँटता है। संत एवं असंतमें यही भेद है।

२९—यह नियम है कि ठोसके स्थानपर पोल ठहर नहीं सकती। ज्यों-ज्यों ठोस चीजको हम लाते हैं, त्यों-त्यों पोल समाप्त होती जाती है। प्रकाशके आगमनसे अन्धकार स्वतः नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों हम भगवान्में मन लगायेंगे, वैसे-ही-वैसे जगत् मनसे हटता चला जायगा।

३०—भगवान्के भजनकी इच्छा सर्वथा हमारे अधीन है। यह इच्छा जो जाग्रत् नहीं होती अथवा जाग्रत् होनेपर बढ़ती नहीं, इसमें सर्वथा हमारा अपना दोष है।

३१—जगत्की बहुत परवाह न करे। जिसके जिम्मे जो कर्तव्य-कर्म है, उसे अच्छी प्रकार करे, पर उसके फलके प्रति निश्चिन्त हो जाय तथा चिन्ता एकमात्र भगवान्की करे।

३२—भगवान्के प्रति विश्वास, भगवान्में ममत्व, भगवान् ही एकमात्र अपने हैं और कोई भी अपना नहीं, इस प्रकारकी दृढ़ आस्थाका जब उदय हो तथा जब भगवान्के बिना सब कुछ व्यर्थ अनुभव होने लगे, तब समझना चाहिये कि समर्पणकी इच्छा जाग्रत् हुई है।

३३—अपनी असमर्थताकी अनुभूति और भगवान्की कृपालुता एवं सर्वसमर्थताका विश्वास जबतक नहीं होता, तबतक समर्पणकी बात मनमें नहीं आती। शरणागतिमें दो बातें होती हैं—अपने दैन्यका पूरा-पूरा दृढ़ निश्चय और भगवान्की शक्ति एवं प्रीतिका पूरा विश्वास।

३४—समर्पणमें सबसे मुख्य बाधा है—अपनी योग्यता, पद, विद्या, बुद्धि, अधिकार, धन आदिका अभिमान। जहाँ अपने दैन्यपर विश्वास होता है तथा साथ-ही-साथ भगवान्की महत्तापर दृढ़ आस्था होती है, वहाँ समर्पण सहज हो जाता है।

३५—भगवान्में तीन बातें हैं। १. भगवान् केवल त्रिकालज्ञ ही नहीं, सर्वज्ञ हैं। २. वे कालके काल हैं; भगवान् सब कुछ कर सकते हैं—वे सर्वशक्तिमान् हैं तथा ३. भगवान् हमारा भला करनेके लिये आतुर हैं; क्योंकि वे हमारे सुहृद् हैं। अतएव उनके शरणापन्न होनेमें तनिक भी सोचने-विचारनेकी आवश्यकता नहीं है।

३६—जहाँ भगवान्पर विश्वासमें जरा भी कमी है, जहाँ अपनी बुद्धि-समझका जरा-सा भी अभिमान है, वहाँ समर्पण नहीं हो सकता।

३७—पूर्ण समर्पणमें अपनी कोई चाह ही नहीं रहती।

३८—भगवान्के समर्पित होनेपर भक्तमें दो बातें आती हैं—(१) उसके द्वारा फिर कभी कोई बुरा कर्म नहीं होता। (२) वह सर्वथा निर्भय-निश्चिन्त रहता है।

३९—पूर्ण शरणागति होनेके लिये सबसे पहले भगवान्के विधानमें मङ्गलमयताके दर्शन करके अनुकूलता-प्रतिकूलतामें हर्ष और शोक न करनेका अभ्यास करना चाहिये। अर्थात् फलरूपमें जो कुछ हमें प्राप्त होता है, वह हमारे मङ्गलके लिये ही है, इस बातपर दृढ़ विश्वास करना चाहिये।

४०—जिसका अपना भला-बुरा सोचनेवाला 'अहं' जबतक बाकी है, तबतक वह समर्पित नहीं हो सकता।

४१—प्रेममें भगवान्के साथ एकात्मता हो जाती है। वह अपने-आपको भगवान्के हाथोंमें सौंपकर उनके हाथका खिलौना हो जाता है। अपने मनको खोकर वह भगवान्के मनको अपनेमें स्थापित कर लेना है।

४२—दरिद्र कौन है ? जिसमें तृष्णा है । धनी कौन है ? जिसकी कोई चाह नहीं है ।

४३—कोई भी भोगाकाङ्क्षी कभी यह नहीं कह सका, नहीं कह सकता, नहीं कह सकेगा कि भोगोंसे मेरी तृप्ति हो गयी है । भोगोंसे कभी आत्यन्तिक तृप्ति हो ही नहीं सकती ।

४४—मनुष्य-जीवन मिला ही एक कामके लिये है । वह है भगवत्प्राप्ति । जीव-जीवनकी पूर्ण सफलता इसीमें है ।

४५-सबसे बड़ा नुकसान है—मानव-जीवनको भोगोंमें खो देना ।

४६—मनुष्यका सबसे पहला लक्षण है—भगवान्‌की ओर लगनेका निश्चय करना तथा मानवकी मानवताका आरम्भ तब होता है जब वह भगवान्‌की ओर लगना आरम्भ करता है । नहीं तो, चौपाया नहीं होकर दो पैर-हाथवाला लम्बा जीव बननामात्र मनुष्य नहीं है ।

४७—भगवान्‌की ओर मनुष्य लगा हुआ है, इसकी जाँच है कि उसके चित्तमें पापकी बुद्धि, पापकी वासना, विषयोंकी आसक्ति-कामना, नाम-रूपका मोह आदि मिटे कि नहीं । जितने अंशमें ये विकार मिटे हुए दिखायी दें, समझना चाहिये उतने ही अंशमें उसका जीवन भगवान्‌की ओर लगा हुआ है ।

४८—जीवनकी गतिको भगवान्‌की ओर कर देना दैवी-सम्पत्तिको अपने अंदर लानेका एकमात्र साधन है ।

४९—मनुष्यको जहाँ वह खड़ा है, वहींसे अपना मुँह भगवान्‌की ओर मोड़ देना चाहिये ।

५०—भगवान् केवल एक बात देखते हैं—वह मुझे चाहता है कि नहीं । फिर वह चाहे जिस वर्णका, कुलका, पदका, स्थितिका, योग्यताका व्यक्ति हो भगवान् उसे स्वीकार कर लेते हैं ।

५१—इस 'असुखम्', 'दुःखालयम्' तथा 'दुःखयोनि' जगत्‌की कोई भी परिस्थिति, प्राणी, वस्तु मनुष्यके दुःखको नहीं मिटा सकते । मनुष्यके दुःखकी निवृत्ति तभी सम्भव है, जब भगवान् उसके मनमें आ जायँ ।

५२—संत-समागमसे, प्रेमी भक्तके संगसे, भगवान्‌की कृपासे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति बहुत सरल है ।

५३—भगवत्कृपा निष्ठावानोंपर होती है, यह ठीक है; पर भगवान्‌की कृपापर जीवमात्रका अधिकार है । वह प्राणीमात्रकी वस्तु है । जीव अपने दैन्यको एवं भगवान्‌की महत्ताको भूला हुआ है । ये दोनों जग जायँ तो भगवत्कृपाका मार्ग सहज साध्य हो सकता है और होता है ।

५४—भगवान् भक्तके लिये पहरा देते हैं, उसे सँभालते हैं तथा उसे साधनाके मार्गमें हाथ पकड़कर आगे ले चलते हैं ।

५५—भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे रहित एवं भगवत्प्राप्तिकी साधनासे शून्य मानव मानव नहीं है ।

प्रभुको पूरा अधिकार दे दो

अपने भले-बुरेका पूरा दे दो प्रभुको ही अधिकार ।
जीवनमें होने दो सब स्वच्छन्द उन्हींके मन-अनुसार ॥
करते रहो सचेत कर्म शुभ उनकी ही रुचिके अनुकूल ।
कर्म-कर्मफलमें न रखो आसक्ति तनिक भी मनमें भूल ॥
प्रभुकी सेवारूप करो प्रत्येक कार्य रखकर विश्वास ।
भय-विषाद सब छोड़, रखो नित मनमें निर्भयता-उल्लास ॥

नारदीय भक्ति

(लेखक—प्रो० श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र)

भक्तिविषयक जितने प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें नारदभक्तिसूत्र प्रमुख है। नारद परम भागवतोंमें अन्यतम हैं। अहर्निश भगवान्‌का नाम-गुण-कीर्तन करते हुए सर्वत्र विचरण करते रहना उनकी दैनन्दिन-चर्या है। वे भगवान्‌के विश्वस्त प्रियपात्र हैं। अपने भक्ति-सूत्र ग्रन्थमें उन्होंने भक्तिके दार्शनिक तत्त्वकी व्याख्या न करके भक्तिके स्वरूप एवं साधनपक्षकी विशद व्याख्या की है। भक्ति-भावके साधकोंके लिये यह लघु ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

भक्तिसूत्रमें सूत्ररूपसे भक्ति-तत्त्वका सारांश कथित हुआ है। दस अध्यायोंमें कुल चौरासी सूत्र हैं। एक-एक सूत्रमें भक्तिके स्वरूप, लक्षण, साधन आदिके सम्बन्धमें अति संक्षिप्त रूपमें हृदयग्राही बातें कही गयी हैं। भक्तिपथके पथिक श्रद्धा-भावसे यदि इन सूत्रोंका पारायण, मनन, चिन्तन करेंगे तो अवश्य ही उनके अन्तरमें भक्ति-भावना सुदृढ़ होगी और उन्हें परम आह्लाद प्राप्त होगा।

भक्तिकी परिभाषा करते हुए प्रथम सूत्रमें उन्होंने कहा है। ईश्वरके प्रति परम प्रेम ही भक्ति है। 'सा कस्मै परमप्रेमरूपा।' (सूत्र २)अमृत-तुल्य भक्ति आनन्द-दायिनी है। जिसने इस भक्तिरूपी अमृतका एक बार आस्वादन कर लिया, वह उस आस्वादनका वाणी-द्वारा वर्णन नहीं कर सकता। भक्तिका आनन्द अनिर्वचनीय है। भगवान्‌के प्रति अनन्य प्रेमका जो आनन्द है, उस आनन्दकी अभिव्यक्ति वाणीद्वारा नहीं हो सकती। 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।' (सूत्र ५१) भक्तिरूपी अमृतके आस्वादनका आनन्द अन्तरमें ही अनुभव किया जा सकता है। जिस प्रकार गूँगा मनुष्य किसी मधुर वस्तुका स्वाद ग्रहण कर उससे जो तृप्ति लाभ करता है, उसे व्यक्त करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है, उसी प्रकार भक्तिरसामृतका पान करनेवाला बड़भागी व्यक्ति भी तृप्ति लाभ करके मूक बन जाता है। इसलिये नारदने भक्तिके आनन्दको 'मूकास्वादनवत्' (सूत्र ५२) कहा है। भक्तिप्रवर सूरदासके शब्दोंमें 'ज्यों गूँगे मीठे फलको अन्तरतर ही भ्यावैं।'

भक्तिका आनन्द अनुभूतिगम्य है। उसका प्रत्यक्ष वर्णन सम्भव नहीं है। इसलिये नारदने कहा है कि भक्तिरूपी अमृत लाभ करके मनुष्य सिद्ध होता है, अमृत होता है, तृप्त होता है। भक्तिरूपी रत्न प्राप्त करके मनुष्यकी समस्त कामनाएँ, वासनाएँ सिद्ध हो जाती हैं। इसे पाकर वह और किसी वस्तुकी कामना नहीं करता, किसीके लिये शोक नहीं करता, संसारकी अन्य वस्तुको पाकर आनन्दित नहीं होता या कोई वस्तु प्राप्त करनेके लिये उत्साहित नहीं होता। इस रूपमें भक्तिका अप्रत्यक्ष वर्णन नारदने किया है। भक्तिरूपी दुर्लभ रत्नको प्राप्त करके मनुष्य मत्त होता है, स्तब्ध होता है, आत्माराम होता है और भक्तिमें अन्य कोई कामना निहित नहीं होती।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। यत् प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। (सूत्र ४–६)

मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेके नाते शास्त्रीय विधि-निषेध और सामाजिक रीति-नीतिको मानकर चलता है। किंतु भगवान्‌का सत्यनिष्ठ भक्त शास्त्रीय विधि-निषेध एवं लौकिक रीति-नीतिके बन्धनोंसे ऊपर उठ जाता है। उसका आचरण देखकर लोग उसे जड या उन्मत्त समझने लगते हैं। भक्तिके आनन्दमें वह इतना आत्मविभोर बन जाता है कि लौकिक निन्दा-स्तुतिकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता, अहंभावका लवलेश नहीं रह जानेसे वह लज्जा और संकोचकी अवस्थाका अतिक्रमण कर जाता है। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है। 'विलज्ज उद्गायति नृत्यते च' ऐसे भक्त, जो पागल-की तरह बार-बार हँसते रहते हैं, कभी-कभी रो पड़ते हैं, लज्जा-संकोच त्यागकर गीत गाते हैं। भावावेशमें नाचने लगते हैं, वे पृथिवीको पवित्र करते हैं—'सद्-भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।' नारदके अनुसार इस लौकिक मर्यादाका त्याग, लज्जाहीन आचरणका नाम 'निरोध' है। भक्त एकमात्र भगवान्पर आश्रित रहता

है। अन्य सब प्रकारके आश्रयोंका वह परित्याग कर देता है। उसके मन-प्राण ईश्वरके प्रति सर्वतोभावेन समर्पित हो जाते हैं। अन्य सभी विषयोंके प्रति वह उदासीन बना रहता है। शास्त्रीय एवं लौकिक कर्तव्य-कर्म जिस सीमातक उसकी भक्ति-भावनाको पुष्ट करनेमें सहायकारी होते हैं, वहाँतक वह उनका सम्पादन करता है।

भक्तिके सम्बन्धमें नारदने विभिन्न आचार्योंके मतोंका भक्तिसूत्रमें उल्लेख किया है। पराशरके मतसे भगवान्‌की पूजा-अर्चामें अनुराग भक्ति है। गर्गके अनुसार भगवत्-कथामें अनुराग भक्तिका लक्षण है। शाण्डिल्य विरोध-हीन आत्मरतिको भक्ति मानते हैं। किंतु नारदके मतसे भगवान्‌में समस्त लौकिक विषयोंका समर्पण और एक क्षणके लिये भी भगवान्‌का विस्मरण होनेसे परम व्याकुलताका अनुभव—भक्तिका प्रधान लक्षण है। अनन्य प्रगाढ़ भक्तिमें ऐसा ही होता है। जैसा कि व्रज-गोपियोंको हुआ था। इसलिये भक्तिमार्गके साधकोंके लिये आदर्श स्वरूपा हैं—व्रजकी गोपाङ्गनाएँ। 'यथा व्रजगोपिकानाम्।' (सूत्र २१)

भगवान्‌के प्रति प्रेमाभक्ति अनिर्वचनीय होनेपर भी उनका प्रकाश किसी-किसी व्यक्तिमें देखा जाता है, 'प्रकाश्यते क्वापि पात्रे।' भक्ति त्रिगुणातीत अर्थात् सत्त्व, रज, तमसे परे है। भक्तिमें कोई कामना नहीं रहती, भक्ति विरामहीन तथा सूक्ष्म अनुभवरूप है। प्रत्येक क्षण उसमें वृद्धि होती रहती है। भक्ति प्राप्त कर लेनेपर साधक केवल भक्तिको ही देखता है, भक्ति ही सुनता है, भक्तिकी ही चर्चा करता है और भक्ति-विषयका ही चिन्तन करता है।'

'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भावयति तदेव चिन्तयति।' (सूत्र ५५)

किंतु भक्तिकी यह अवस्था चरम है। साधक एक-बारगी इस अवस्थापर नहीं पहुँचता। इस चरम अवस्था-पर भक्तिके क्रमविकसित रूपमें पहुँचा जा सकता है। आरम्भमें भक्तिके रूपमें कोई वैलक्षण्य नहीं देखा जाता। चाहे जिस अवस्थासे भक्तिमार्गकी यात्रा आरम्भ हो, यात्राकी अन्तिम परिणति चरम अवस्थामें ही होती है। एक-एक सोपानद्वारा इस अवस्थापर किस प्रकार पहुँचा जा सकता है, यह विशद रूपसे हमारे मानसपटलपर अङ्कित करनेके लिये नारदने निम्नतम सोपानकी भी उपेक्षा नहीं की है। अनिर्वचनीय गुणातीत भक्ति यद्यपि मुख्य है, किंतु गुण-भेद या आर्त्तादि भेदसे गौण भक्तिको तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है। सत्त्व, रज, तम या आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी। इनमें तमोगुणी भक्तिसे रजोगुणी भक्ति और रजोगुणी भक्तिसे सात्त्विक भक्ति श्रेष्ठ है। अर्थार्थीसे आर्त और आर्तसे जिज्ञासु भक्त श्रेष्ठ है। गीता (७। १६) में भगवान्‌का वचन है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

अर्थार्थी भक्त किसी लौकिक कामनाको लेकर भगवान्‌का स्मरण करता है, प्रार्थना-याचना करता है; आर्त भक्त सांसारिक दुःख-क्लेश, व्यथा-वेदनासे पीड़ित होकर भगवान्‌को स्मरण करता है; अपनेको सब प्रकारसे अनाथ एवं निरवलम्ब समझकर भगवान्‌के शरणापन्न होता है और जिज्ञासु भगवान्‌को जानना चाहता है, उनके स्वरूपसे परिचित होना चाहता है।

मनुष्य अपने जीवनमें सबसे बढ़कर जिस कठोर सत्यका सामना करता है, वह है—मृत्यु। मृत्युसे परित्राण पानेका उसे कोई उपाय नहीं सूझता। किंतु सृष्टिके आदिकालसे ही मनुष्य मृत्युका अतिक्रमण करके अमृतत्व लाभ करनेकी आकाङ्क्षा करता आ रहा है। आत्मा अमृतस्वरूप है, इसलिये मृत्यु अवश्यम्भावी होनेपर भी मनुष्य युग-युगसे मृत्युञ्जयी बननेकी चेष्टा करता आ रहा है। रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शद्वारा वह समग्र विश्वको आत्मसात् कर लेना चाहता है। किंतु इन्द्रियजन्य भोगोंका चाहे वह कितना ही उपभोग क्यों न करे, उसे कभी तृप्ति नहीं होती। भोग्य वस्तुओंका वह जितना ही उपभोग करता है, उसकी भोग-वासना उतनी ही बढ़ती जाती है। उसका अन्तर और भी अधिक भोगके लिये हाहाकार करता रहता है। भूमास्वरूप होनेके कारण अल्पसे उसे तृप्ति नहीं होती; वह परिपूर्ण आनन्दलाभ करना चाहता है। शत-शत दुःख-कष्टोंके बीच भी मनुष्य सुखकी आशाका त्याग नहीं कर सकता। आत्मा आनन्दस्वरूप है, इसलिये मनुष्य शाश्वत आनन्दकी कामना सतत करता रहता है; किंतु अज्ञानतावश वह इन्द्रियभोगजन्य क्षणिक सुखकी तृष्णामें इस प्रकार विमूढ़ बना रहता है कि वह

अपने आनन्दस्वरूपको भूले रहता है। अमृतस्वरूप आनन्दमय भूमा ही हमारे लिये इष्ट है, परम काम्य है। यही हमारी यथार्थ सत्ता है। अपनी इस सत्ताकी उपलब्धिके लिये ही प्रत्येक प्राणी ज्ञात या अज्ञातरूपसे जीवनपथपर अग्रसर हो रहा है। अज्ञानताके कारण वह इष्टलाभ करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है, अपने आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ बना रहता है। इष्टको निश्चित रूपसे प्राप्त करने, अपने स्वरूपको हृदयङ्गम करनेके लिये तत्त्वदर्शी ऋषियोंने ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म—इन चार मार्गोंका निर्देश किया है।

इन चार साधनोंमें न कोई बड़ा है, न कोई छोटा। देश-काल और अधिकार-भेदसे प्रत्येक मार्गकी उपादेयता एक समान है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इन चारों मार्गों या साधनोंमें सुन्दररूपसे सामञ्जस्य-विधान किया है। संसारके बड़े-बड़े धर्मप्रचारकोंने एक-एक मत या मार्गको लेकर जिस प्रकारका पक्षपातित्व या एकाङ्गी भाव दिखलाया है, उस प्रकारका भाव गीतामें नहीं है। श्रीकृष्णने ज्ञान, कर्म, भक्तिमें समन्वय करते हुए एकको दूसरेका पूरक बताया है। ज्ञानकी चरम परिणति भक्तिमें होती है। सम्पूर्ण जागतिक कर्मोंका अवसान भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पणमें होता है। नारद कर्म, ज्ञान और योगसे भक्तिको श्रेष्ठ बताते हैं। सब साधनोंका अन्तिम फल भक्ति है, इसलिये भक्ति श्रेष्ठ है। ज्ञानमें आत्माभिमान रहता है और कर्ममें कर्तृत्वका अभिमान। भगवान् अभिमान नहीं, दैन्य-भावके प्रति आकृष्ट होते हैं। साधकके मनमें अपनी दीनता तथा भगवान्‌की अनुकम्पाका भाव जाग्रत् होता है, इसलिये भक्ति श्रेष्ठ है। कोई-कोई कहते हैं कि ज्ञान-साधनद्वारा भक्तिकी प्राप्ति होती है। कोई-कोई ज्ञान और भक्तिमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बताते हैं। किंतु सनत्कुमार, नारद प्रभृति ब्रह्मकुमारोंका अभिमत है कि कर्म, ज्ञान और योगकी सहायताके बिना भी भक्ति स्वयं फलप्रसू है।,

'सा तु कर्म-ज्ञान-योगेभ्योऽप्यधिकतरा । फलरूपत्वात्।'

(सूत्र २५-२६)

राजप्रासाद देखनेपर जिस प्रकार राजदर्शन-लाभ नहीं हो सकता, खाद्यसामग्रीके देखनेपर जिस प्रकार क्षुधाकी शान्ति नहीं होती, उसी प्रकार भक्तिको छोड़कर अन्य साधनोंको समझना चाहिये। इसलिये मुक्तिपथके पथिकोंके लिये भी एकमात्र भक्ति ही वरेण्य हो सकती है।

नारदके समयमें भक्तिके सम्बन्धमें जो सब मतवाद प्रचलित थे, उनमें दोका उल्लेख उन्होंने किया है—

(१) ज्ञानकी साधनाद्वारा भक्तिलाभ।

(२) ज्ञान और भक्ति परस्पर आश्रित हैं।

नारद प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि भक्तिका फल प्राप्त करनेके लिये अन्य किसी साधन या आश्रयकी आवश्यकता नहीं।

इस प्रसङ्गमें यह विचारणीय है कि अन्य साधनोंका यत्किंचित् आश्रय ग्रहण किये बिना क्या भक्तिपथपर अग्रसर हुआ जा सकता है ? भक्तिमें भगवान्‌का नाम, गुण, कीर्तन, चिन्तन, मनन क्या मनःसंयमके बिना सम्भव है ? साधारण दृष्टिसे देखनेपर ऐसा लगता है कि भक्तिपथके पथिकोंके लिये भी ज्ञान, कर्म आदिका अनुष्ठान अनिवार्य है। गीतामें जिस प्रकार निर्गुण या अव्यक्तोपासकके लिये **'सर्वभूतहिते रताः'** बताया गया है, उसी प्रकार भक्तके लिये भी **'सर्वकर्मफलत्याग'** है। कर्म, योग, ज्ञान, भक्ति——चाहे जिस मार्गका अवलम्बन किया जाय, साधना किये बिना सिद्धिलाभ नहीं हो सकता। भगवत्कृपा भी अनन्यभावसे ही प्राप्त हो सकता है। इनमें ज्ञान और योगका मार्ग अपेक्षाकृत कठिन बताया गया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

(१२ । ५)

परमात्माके अव्यक्तरूपमें जिनका चित्त आसक्त है, उन्हें साधनाके मार्गमें अधिक कष्ट उठाना पड़ता है। जबतक देहाभिमान बना हुआ है, तबतक देहधारियोंके लिये यह मार्ग कष्टसाध्य है।

मनुष्यमें जो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ होती हैं और जिनकी प्रेरणासे वह प्रतिक्षण अपने जीवनमें परिचालित होता है, उन प्रवृत्तियोंके विरुद्ध ज्ञान और योगमार्गके साधकको चलना पड़ता है। अधिकांश मनुष्योंके लिये ये दोनों मार्ग कठिन प्रतीत होते हैं। भक्तिमार्ग अपेक्षाकृत सरल इसलिये है कि इसमें प्रवृत्तियोंके विरुद्ध नहीं जाना पड़ता है। यह प्रेमका मार्ग है। मनुष्य अपने जीवनके अधिकतर कार्योंमें प्रेमसे प्रेरित होकर ही प्रवृत्त होता है। अन्य मार्गोंकी अपेक्षा भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है। इसमें प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। नारद कहते हैं कि भक्ति स्वतःप्रमाण है—

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ। प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात्॥

(सूत्र ५८-५९)

अधिकांश मनुष्य भावप्रवण होते हैं। बुद्धिकी अपेक्षा

भावनाद्वारा वे अपने कर्ममय जीवनमें विशेषरूपसे परिचालित होते हैं। इसलिये भक्तिमार्ग उनके लिये सहज होता है। भक्तिकी साधनाके साथ-साथ उन्हें आनन्द मिलता है। किंतु कुछ ऐसे भी साधक होते हैं, जिनकी प्रवृत्ति चिन्तन-मनन, ध्यान-धारणा अथवा कर्मकी ओर विशेषरूपमें होती है। वे ज्ञान, ध्यान या कर्मयोगका अधिकार लेकर जन्म ग्रहण करते हैं। उनके लिये अवश्य ज्ञान, ध्यान या कर्मका मार्ग ही सहज हो सकता है। इसलिये जो लोग भक्ति-साधनाके अधिकारी हैं, नारदने उनके हेतु ही भक्तिमार्गका उपदेश दिया है। उनके लिये भक्तिमार्ग सहज और उपयोगी है, इसलिये वह श्रेष्ठ है। नारदका मत किसी पक्षपात-दोषसे दूषित नहीं है।

नारद ऐकान्तिक भक्तिको श्रेष्ठ मानते हैं। भगवत्कथा सुनकर, भगवान्का नाम-गुण-कीर्तन करके आनन्दसे कण्ठ-रोध हो जाना, नेत्रोंसे अश्रुधारा स्रवित होना, रोमाञ्च होना—ये सब लक्षण ऐकान्तिक भक्तके हैं। ऐसे भक्तोंद्वारा तीर्थ सच्चे अर्थमें तीर्थ बन जाते हैं, कर्म सुकर्म और शास्त्र सत्-शास्त्र बन जाते हैं। ऐसे भक्त सर्वदा भगवान्में तन्मय बने रहते हैं। उनके लिये पितृगण आनन्दित होते हैं, देवता नृत्य करते हैं, पृथिवी सनाथा होती है। भक्तोंमें जाति-विद्या-रूप-कुल-धन और कर्मगत कोई भेद नहीं रह जाता—

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः। कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च। तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि। तन्मयाः। मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति। नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः। (सूत्र ६७-७२)

भक्ति-साधनका सर्वोत्तम उपाय है—'महज्जनोंकी कृपा तथा भगवान्की लेशमात्र करुणा।' भगवान्के अनन्य भक्त और भगवान्में कोई भेद नहीं होता। महज्जनोंका संग दुर्लभ एवं अमोघ होता है। सब समय अविराम भावसे भगवान्का भजन करते रहना, भगवद्गुण-कीर्तन-भजनमें भाग लेना, भगवान्के विभिन्न रूपोंमें कोई भेदज्ञान नहीं रखना, नित्य दासभाव या कान्ताभावसे भक्ति करना ऐकान्तिक भक्तिके लक्षण हैं।

भक्तके समस्त कर्म भगवान्के प्रति निवेदित होंगे। इसलिये काम, क्रोध, अभिमान आदि भी यदि करना आवश्यक हो तो ये सब भी भगवान्के प्रति अर्पित होंगे। साधन-मार्गमें सबसे बड़ी बाधा है माया या अज्ञान। नारदने भक्तिसूत्रमें मायापर विचार करते हुए कहा है कि मायासे परे वही व्यक्ति जा सकता है जो महत्की सेवा करता है तथा ममताशून्य है। एकान्तसेवी बनकर त्रिगुणातीत हो जाता है। किसी वस्तुके रक्षणावेक्षणकी इच्छा नहीं करता, कर्मफलत्यागपूर्वक सर्वकर्म भगवान्के प्रति अर्पित कर देता है।

साधनाकालमें भगवान्के प्रति किसी प्रकारका सम्पर्क स्थापित कर लेनेपर भक्ति प्रगाढ़ होती है और साधना भी सहज एवं मधुर हो जाती है। अधिकारीभेदसे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—इन पाँच भावोंमें किसी एकका अवलम्बन करके साधना करनेका उपदेश आचार्योंने दिया है। किसी एक भावका आश्रय ग्रहण करके भगवान्की जो भक्ति की जाती है, उसे नारदने 'आसक्ति' नाम दिया है।

शास्त्र या लौकिक व्यवहारमें भक्तिमार्गका जो कुछ भी विरोधी हो, साधकको उन सबका त्याग करना होगा; किंतु नारदके कथनका यह अभिप्राय नहीं है कि आरम्भसे ही शास्त्रीय अथवा लौकिक कर्मका परित्याग कर दिया जाय। उनका कथन है, जबतक भक्तिभाव सुदृढ़ नहीं हो, तबतक शास्त्रके विधि-निषेधोंको मानकर चलना उचित है। ऐसा न करनेसे पतनका भय बना रहता है। जबतक अपना तन, मन, धन तथा सर्वस्व भगवान्को निवेदित न कर दिया जाय, तबतक लौकिक कर्तव्यकर्मका परित्याग करना उचित नहीं। किंतु कर्तव्यकर्म करते हुए फलासक्तिका त्याग करना होगा। भगवान्में भक्तिभाव दृढ़ होनेपर लौकिक कर्मका परिहार हो जाता है, फिर भी जबतक शरीर है तबतक शरीरधारणके लिये तो कर्म करने ही होंगे—

'लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीर-धारणावधि।' (सूत्र १४)

नारदके भक्तिसूत्रसे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय भी भक्तिमार्गके विभिन्न मतवाद प्रचलित थे और भक्तितत्त्वके आचार्योंके सिद्धान्तोंकी समालोचना भी बहुत कुछ की गयी थी। नारदने ब्रह्मकुमार, व्यास, शुक, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिल्य, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान्, विभीषण प्रभृति आचार्योंका नामोल्लेख किया है, जिनके अभिमतोंका मन्थन करके नारदने अपने भक्तिसूत्रोंकी रचना की है।

फलश्रुतिमें कहा गया है—जो नारदकथित शिवके

उपदेशमें विश्वास करेगा, श्रद्धा करेगा उसे भक्ति प्राप्त होगी, प्रेष्ठ (प्रियतमरूपसे भगवान्) का लाभ होगा । वह अवश्य प्रेष्ठ लाभ करेगा ।'

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स भक्तिमान् भवति स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभते इति । (सूत्र ८४)*

श्रीकृष्ण-कर-कञ्ज

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

जैसे साक्षात् भगवान्में सर्वकल्याणकारिणी शक्ति निहित है, उसी प्रकार भगवन्नाम, भगवच्चरित्र, भगवद्ध्यान आदिमें भी दिव्य चमत्कारपूर्ण परम कल्याणकारिणी शक्ति भरी पड़ी है । भगवान्की श्रीचरणरजके प्रभावसे अहल्या तर गयी; विश्व कृतार्थ हुआ—

परसि चरन रज अचर सुखारी । भए परम गति के अधिकारी ॥
परसि रामपद पदुम परागा । मानत भूमि भूरि निज भागा ॥
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्या०)

(अधिक जानकारीके लिये देखिये 'कल्याण' ३० । ६ का 'दिव्य चरणरज' शीर्षक मेरा लेख)

भगवान्की वाणी सुनकर मृतप्राय मनु-शतरूपा हृष्ट-पुष्ट हो गये, लाखों लोग निहाल हुए—

मृतक जिआवनि गिरा सुहाई । श्रवन रंध्र होइ उर जब आई ॥
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

इसी प्रकार जिनपर प्रभुकी कृपादृष्टि पड़ी अथवा जिन्होंने भगवान्को देख लिया, वे भी मुक्त हो गये—

जड़ चेतन जग जीव घनेरे । जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥
ते सब भए परम पद जोगू ॥

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा ।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥
(श्रीमद्भागवत ९ । ११ । २२)

राघवः सर्वदेवानां पावनः पुरुषोत्तमः ।
स्पृष्टा दृष्टाश्च तेनैव विमला देवमानवाः ॥
(पाद्मोत्तर २५५ । १३१) इत्यादि—

यहाँतक कि भगवत्-संगी—भगवत्प्रेमीका संग भी विलक्षण चमत्कारपूर्ण—मङ्गलजनक माना गया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥
(श्रीमद्भागवत १ । १८ । १३; ४ । २४ । ५७; ४ । ३० । ३४ इत्यादि)

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

फिर मङ्गलमय प्रभुके साक्षात् श्रीहस्तका क्या कहना । तन्त्र-ग्रन्थोंमें हाथके द्वारा ही दीक्षा एवं शक्तिपातका विधान है । सामुद्रिक जाननेवाले हाथके द्वारा ही सब भूत-भविष्यका निर्देश करते हैं । कर्मकाण्डके पण्डित विवाहमें करग्रहणद्वारा ही स्त्री-पुरुषके जन्म-जन्मकी एकताका, स्नेह-निर्वाहका संकल्प कराते हैं । देवतालोगोंकी अभय एवं वरद मुद्रा हस्तद्वारा ही सम्पन्न होती है । किमधिकं—प्राणीकी सारी क्रियाएँ करनेके कारण ही तो इसका 'कर' नाम सार्थक दीखता है । अतः गोपियाँ भी प्रार्थना करती हैं—

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते
चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ३१ । ५)

श्रीजीवगोस्वामीने अपने 'गोपालचम्पू'† में इसे थोड़े ही अन्तरसे इस प्रकार लिखा है—

* देवर्षि नारदके भक्तिसूत्रोंकी मूलसहित हिंदी व्याख्या (प्रेमदर्शन), संस्कृत व्याख्या (प्रेमदर्शनम्) और अंग्रेजी व्याख्या (Philosophy of Love) गीताप्रेससे प्रकाशित हैं, जो उनसे लाभ उठाना चाहें, वे मँगवाकर पढ़ सकते हैं ।

† श्रीगोपालचम्पू—पृष्ठ ६१८, हरिनामसंकीर्तन-मण्डल श्रीधामवृन्दावन, १९६८ ई० की नवप्रकाशित व्याख्यासे । वास्तवमें यह टीका अत्युत्तम हुई है ।

इति तवेशितुः सुष्ठु यः करः
प्रथितसंसृतेर्भीतिभीकरः ।
शिरसि नः कुरु श्रीकरग्रहं
तमिह नान्यथा भावयाग्रहम् ॥
(श्रीगोपालचम्पू २५ पू० ९)

अर्थात् विश्वरक्षक होनेके कारण, जो सब कामनाओंका प्रदाता एवं विस्तीर्ण जगद्भयको भी भयभीत करनेवाला है और जो लक्ष्मीका पाणिग्रहण करनेवाला है, उस अपने सर्वश्रेष्ठ हस्तकमलको आप हमारे मस्तकपर धारण कीजिये। इस विषयमें आप अन्य कोई आग्रह न करें; अर्थात् ऐसा करनेमें आप बिल्कुल ही संकोच न करें।

भक्तशिरोमणि प्रह्लाद भी श्रीहस्तसंस्पर्शकी दुर्लभता बतलाते हुए अपने सौभाग्यश्रीका वर्णन करते हुए कहते हैं—

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । २६)

अर्थात्—हे प्रभो ! कहाँ तो इस तमःप्रधान असुर-वंशमें रजोगुणसे उत्पन्न हुआ अत्यन्त निकृष्ट मैं, और कहाँ तो यह आपकी दुर्लभतम कृपा ! यह आपके कर-कमलका प्रसाद, जो आपने मेरे मस्तकपर संस्पर्शरूपसे स्थापित किया, न तो ब्रह्माजीको प्राप्त हुआ, न शिवजीको और न भगवती पराम्बा महालक्ष्मीको ही। किंतु इसका तात्पर्य भगवान् नृसिंहके ही करकमलसे ही दीखता है, जैसा कि कथासे स्पष्ट है*—अन्यथा भगवती महालक्ष्मीका भी कथन है—

स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं
कराम्बुजं यत्त्वदधायि सात्वताम् ।
बिभर्षि मां लक्ष्म वरेण्य मायया
क्व ईश्वरस्येहितमूहितुं विभुरिति ॥
(श्रीमद्भागवत ५ । १८ । २३)

अर्थात्—

त्वया यत् कराम्बुजं सात्वतानां शीर्ष्णि अधायि, तन्ममापि तादृशभक्तिहीनायाः शीर्ष्णि अधायीत्येकमाश्चर्यम्। किञ्च। स तादृशस्त्वं मायया—कृपया, मा—मां, वक्षसि लक्ष्मरूपत्वेन बिभर्षीति ततोऽपि परमाश्चर्यम् ।

(भागवत ५ । १८ । २३ पर जीवगोस्वामिकृत क्रमसंदर्भ)†

अर्थात्—हे अच्युत ! आपने जो करकमल श्रेष्ठ भक्तोंके सिरपर रक्खा, वही हस्तकमल मुझ-जैसी भक्तिहीनाके सिरपर भी स्थापित किया । इतना ही नहीं, बड़े आश्चर्य-की बात तो यह है कि आप अपनी कृपाद्वारा मुझे (श्रीवत्स-चिह्नके रूपमें) सदा अपने हृदयपर भी धारण करते हुए वहन करते हैं। भला आपकी कृपामयी लीलाचरित्र-चेष्टाका रहस्य कौन समझ सकता है ?

अस्तु ! गोपियोंके कथनमें भगवान्के श्रीहस्तके तीन विशेषण हैं, अभयप्रदत्व, कामदत्व तथा श्रीकर-ग्रहणत्व । 'अभयप्रदत्व' का उल्लेख भागवतकार प्रह्लाद-प्रसंगमें भी करते हैं। यथा—

स्वपादमूले पतितं तमर्भकं
विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः ।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात् कराम्बुजं
कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । ५)

बालक प्रह्लादको अपने पैरोंमें पड़ा देख भगवान् कृपासे परिप्लुत हो गये । उन्होंने उसे उठाकर खड़ा किया तथा उसके मस्तकपर कालसर्पसे भयभीत बुद्धिवालोंको अभयप्रदान करनेवाले अपने श्रीहस्तको संस्थापित कर दिया।

'कामद' शब्दके भागवतके व्याख्याताओंने अनेक अर्थ किये हैं। गोपियोंको श्रुति मानकर निवृत्तिपरक अर्थ करते हुए उनका कथन है कि 'कामं द्यति—खण्डयति (दो—अवखण्डने ४ । ४० धातु) इति कामदं करसरोरुहं'। अर्थात् कामनाके रहते शान्ति नहीं। अतः उसका निर्मूलन परमावश्यक है, सो यह श्रीहस्तप्राप्ति-द्वारा ही शक्य है। कहा भी है—

काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

* साक्षाच्छ्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ।
अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात् सा नोपेयाय शङ्किता ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । २)

† कुछ दूसरे टीकाकारोंने 'येहि' का अध्याहार कर प्रह्लादोक्ति-की संगति बैठायी है ।

पुनश्च—

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा ॥
ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी ॥
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ॥

अथवा—

तब लगि कुसल न जीव कहुँ, सपनेहुँ मन बिश्राम ।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम ॥

(श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड)

सामान्य पक्षमें 'कामं ददाति—यच्छति इति कामदं' यह व्याख्या है । इसमें भी विशेषता यह है कि यदि प्राणी स्वयं कामनाओंकी पूर्ति करता है तो उसकी कामनाएँ और भड़कती हैं । यथा—

सेवत विषय विवर्ध जिमि नित नित नूतन मार ॥

या—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

(मनु० २ । ११५; नारदपरि० उप० ३ । ३७; श्रीमद्भा० ९ । १९ । १४; ब्रह्मपुराण १२ । ४०; पद्मपुराण १ । १९ । २६३; विष्णुपुराण ४ । १० । २३; लिङ्गपुराण ६७ । १७; ८६ । २४; महाभारत १ । ७५ । ५०; ३ । २ । २६ इत्यादि)।

पर प्रभुद्वारा पूर्ण होनेपर कामनाओंके साथ उनके पूरक पश्चात् प्रभुचरणोंकी ही महत्ता दीखकर प्राणीकी बड़े वेगसे उधर ही प्रवृत्ति होती है, इससे पूर्ण निवृत्ति, शान्ति, मुक्ति एवं दुर्लभ भक्ति भी प्राप्त हो जाती है । शास्त्र कहते हैं कि प्रभुके कर-चरण-द्वन्द्वोंमें ही कल्पवृक्ष तथा कामधेनुके युगपत् चिह्न हैं, अतः वे सदा सर्वकामवरास्पद हैं—

सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरणमास्पदम् ।(श्रीमद्भागवत २ । ६ । ६)

हनुमान्‌जीके मस्तकपर हाथ रखनेसे उन्हें सिद्धि मिली—

परसा सीस सरोरुह पानी । कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी ॥
प्रभु कर पंकज कपि के सीसा । सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा ॥

—मनुजीको भी

सिर परसेउ प्रभु निज कर कंजा। तुरत उठाए करुना पुंजा ॥

शंकरजी इस दशाको स्मरणकर आनन्दमग्न हो जाते हैं ।

काकभुशुण्डिजीके सिरपर श्रीहस्त रखनेसे उनका सारा क्लेश मिट जाता है—

कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयालु सकल दुख हरेऊ ॥

सुग्रीवका शरीर नीरुज, वज्र हो जाता है—

कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा ॥

श्रीविभीषणके मस्तकपर फिरनेसे वे लंकेश्वर हो जाते हैं—

मंगलमूल प्रनाम जासु जग, मूल अमंगलके खनै ।
तेहि रघुनाथ हाथ माथे दियो, को ताकी महिमा भनै ॥

(गीतावली ५ । ४० । २)

श्रीगोस्वामीजीने आनन्दमग्न होकर प्रभुके मङ्गलमय श्रीहस्तकी महिमामें बहुतेरे पद लिख डाले हैं । उनमेंसे एक-दो यहाँ लिखे जाते हैं—

रामचंद्र-करकंज कामतरु, बामदेव-हितकारी ।
सिय-सनेह-बर-बेलि-बलित बर प्रेम बंधु बर बारी ॥
मंजुल मंगल-मूल मूल तरु, करज मनोहर साखा ।
रोम परन, नख सुमन, सुफल सब काल सुजन अभिलाषा ॥
अविचल, अमल, अनामय, अविरल, ललित, रहित छल छाया ।
समनि सकल संताप पाप रुज मोह मान मद माया ॥

(गीतावली उत्तर० १४)

कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक ! धरिहौ नाथ सीस मेरे ।
जेहि कर अभय किये जन आरत, बारक बिबस नाम टेरे ॥
जेहि कर-कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक-संसय मेट्यो ।
जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यौं, परम प्रीति केवट भेंट्यो ॥
जेहि कर-कमल कृपालु गीध कहँ पिंड देइ निज धाम दियो ।
जेहि कर बालि बिदारि दास-हित, कपिकुल-पति सुग्रीव कियो ॥
आयो सरन सभीत बिभीषन जेहि कर-कमल तिलक कीन्हों ।
जेहि कर गहि सर चाप असुर हति, अभय दान देवन्ह दीन्हों ॥
सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप, ताप, माया ।
निसि-बासर तेहि कर-सरोज की, चाहत तुलसिदास छाया ॥

(विनय० १३८)

कवितावली ७ । ११५ में वे प्रभुके करकञ्जकी अद्भुत कल्पित कल्पतरुसे भी श्रेष्ठता प्रदान करते हैं । यथा—

कनककुधरु केदारु, बीज सुंदर सुरमनि बर ।
सींचि कामधुक धेनु सुधामय पय बिसुद्धतर ॥
तीरथपति अंकुरसरूप जच्छेस रच्छ तेहि ।
मरकतमय साखा-सुपत्र मंजरिय लच्छि जेहि ॥
कैवल्य सकल फल, कल्पतरु सुभ सुभाव सब सुख-बरिस ।
कह तुलसिदास रघुबंसमनि ! तौ कि होइ तुअ कर सरिस ॥

इत्यादि ।

(बांजण, (आर्की) हिमाचलप्रदेशमें किये गये एक भागवत-प्रवचनके आधारपर)

दुखियोंके लिये आत्मदान

[कहानी]

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

बहुत प्राचीन कालकी घटना है—

एक बार मिथिलानरेश अपने राज्यका विस्तार चाहते थे। जब आदमी अपने स्वार्थ तथा गर्वमें चूर हो जाता है, तब निर्बल और छोटे-छोटे लोगोंपर आतङ्क स्थापित करना चाहता है। बड़े राज्य छोटे राज्योंको हड़प लेते हैं। बलवान् पुरुष दुर्बलोंको दबाकर शोषण कर डालते हैं। मिथिला-नरेश भी इसी प्रकार अपने सैन्यबलपर गर्व कर रहे थे। वे अपने राज्यके विस्तारमें संलग्न हो गये। आसपासके छोटे राज्योंपर उनकी हिंसक दृष्टि जम गयी।

उनके समीपका एक कमजोर राज्य था—कौशल-राज्य। यह छोटा तो था, पर था हर प्रकार सुसंचालित, समृद्ध और सम्पन्न।

कौशलराज्यमें सभी कुछ ठीक-ठाक चल रहा था। छोटा राज्य था और उसकी आय भी साधारण ही थी, पर फिर भी समृद्ध। आबादी भी कम थी, पर जनता उदात्त विचारोंवाली थी। सेना थोड़ी थी; क्योंकि वे अधिकतर आय जनताके लिये उपयोगी कार्योंमें व्यय करते थे। अपने आपमें ही सीमित, पर विकासोन्मुख और सज्जन प्रकृतिके।

किंतु घमंडी राजा गरीब और निर्बल राजाओंपर कब दया करते हैं। राज्य-लोलुप मिथिलानरेशने कमजोर कौशल-राज्यपर चढ़ाई कर दी। उन्होंने सोचा, 'यह छोटा-सा राज्य है। क्यों न आसानीसे हड़प लिया जाय! हमारे विशाल राज्यके सामने कब टिक सकेगा?'

कौशल-राज्यकी समृद्धि ही उसकी मुसीबतका कारण बनी। आखिर युद्ध हुआ। कौशलनरेश भारी विपत्तिमें फँस गये। उनकी थोड़ी-सी सेना बड़ी वीरतासे लड़ी। मरता क्या न करता! उनका किला शत्रुओंकी सेनाओंसे घिर गया। घमासान संग्राम हुआ। युद्धभूमि सैनिकोंकी लाशोंसे पट गयी। अपने यश और स्वतन्त्रताको बचाये रखनेके लिये उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया। युवक देशकी खातिर जूझ गये। धन और जनकी बड़ी क्षति हुई।

लेकिन कौशलनरेश हार गये।

वे चुपचाप रात्रिके अन्धकारमें गुप्त द्वारसे किलेको छोड़कर भाग निकले। शत्रु उनके पीछे लगे थे। पता नहीं, कब कौशलनरेश अपने खोये हुए राज्यको वापिस लेनेका प्रयत्न करें। इसलिये मिथिलाके राजाने कौशल-नरेशको सदाके लिये मार्गसे हटानेकी युक्ति सोची। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। कौशलनरेशकी हत्या हो जानी चाहिये।

उन्होंने अपने सारे राज्यमें घोषणा की—

'राज्यकी ओरसे यह घोषणा की जाती है कि जो कोई शत्रुपक्षके राजा कौशलनरेशको जीवित गिरफ्तार करायेगा, उसे मिथिलाराज्यकी ओरसे एक हजार स्वर्णमुद्राएँ इनामके रूपमें दी जायँगी। कौशलनरेश हमारे शत्रु हैं। उन्हें पकड़ना या पकड़वाना हम सबका काम है।'

एक हजार स्वर्णमुद्राओंका लोभ साधारण व्यक्तिके लिये कम नहीं है।

क्षुधा-पीड़ित समाजमें कौन न चाहेगा कि शत्रुको गिरफ्तार कराकर एक हजार स्वर्णमुद्राएँ प्राप्त कर लेनी चाहिये! भूखा पेट जो पापकर्म न कराये, थोड़ा है। पेटकी खातिर लोग पाप और दुष्कर्म करनेपर उतारू हो जाते हैं। किसी भी समाजमें ऐसे क्षुद्र लोगोंकी कमी नहीं है, जो पेटके लिये झूठ-कपट करते हैं।

बेचारे कौशलनरेश राज्य तो खो ही चुके थे, इधर-उधर जंगलोंमें अपने प्राण बचाते फिरते थे। हर व्यक्ति उन्हें खूनी निगाहोंसे देखता था। उनके वस्त्र ऐसे थे कि कोई अनायास पहचान न सके। मामूली गरीब आदमीकी पोशाकमें वे इधर-उधर मारे-मारे फिरते थे। किसी भी नगरमें दो-चार दिनसे अधिक नहीं रहते थे। कभी गाँव, तो कभी शहर—सारा जीवन ही भूख, अभाव, मानसिक अशान्ति, शत्रुसे रक्षामें ही लगा रहता था। कौन मरना चाहता है?

एक दिन वे एक नगरमें पहुँचे। वह एक पिसा-कुटा दुखी नगर था। युद्धकी श्मशान-जैसी काली परछाईं

उसपर पड़ी हुई थी । उन्होंने जिधर देखा, उधर उन्हें केवल स्त्रियाँ और छोटे बच्चे या अतिवृद्ध ही दृष्टिगोचर हुए । युवक कोई भी न था ।

आश्चर्यसे उन्होंने एक वृद्धसे पूछा, 'क्या इस नगरमें कोई युवक नहीं हैं ? कोई जवान नजर नहीं आ रहा है ? क्या कारण है ?'

'तुम्हें नहीं मालूम, मुसाफिर ! एक वृद्धने दुखी होकर उत्तर देते हुए कहा, 'मिथिलानरेशने हमारे कौशलराज्यको हड़पनेकी कोशिश की थी । हमारा प्रदेश खतरेमें था। हम कैसे सहन कर सकते थे कि दूसरा प्रदेश हमें गुलाम बना ले । खतरेकी घंटी बजी । देशभक्तिकी लहर व्याप्त हो गयी । स्वदेशकी रक्षा और शत्रुको खदेड़नेके लिये हमारे यहाँके युवकोंने अपना तन देशके चरणोंमें समर्पित कर दिया ।' 'तो कोई भी युवक नहीं है, इस नगरमें ?' राजाने आश्चर्यसे पूछा—

'मुसाफिर, जन्मभूमिकी प्रतिष्ठामें ही सबकी प्रतिष्ठा छिपी है । जिसकी धूलिमें लेट-लेटकर हम इतने बड़े हुए हैं, जिसने हमें जल और भोजन दिया है, उसकी सेवा और रक्षासे विमुख होना कृतघ्नता है । वास्तवमें माता और मातृभूमिके ऋणसे मनुष्य मृत्युतक मुक्त नहीं होता । इन दोनोंके इतने उपकार होते हैं कि मानव उनसे आजीवन उऋण नहीं हो पाता है । हमारे नगरके युवकोंने मान-रक्षाके लिये अपने-आपको बलिदान कर दिया है ।'

राजा चित्रलिखित-सा इन शब्दोंको सुनता रहा । 'विलक्षण बलिदान !'

वृद्ध आगे कहने लगा, 'केवल स्त्रियाँ, बूढ़े और छोटे बच्चे ही इस नगरमें शेष रह गये हैं ।'

'चारों ओर बड़ा दैन्य और गरीबी दृष्टिगोचर हो रही है । क्या कोई और भी कारण है ?'

'इस वर्ष खेती भी नष्ट हो गयी है' नेत्रोंमें आँसू भर-कर वृद्ध बोला—'सारा नगर तथा आसपासका इलाका आपत्तिग्रस्त हो रहा है । कितने ही बालक और वृद्ध बीमार पड़े तड़प रहे हैं । खानेको कुछ नहीं है । सभी नरकंकालसे जर्जर हो रहे हैं । अकाल···भूख, बेबसी··· लाचारी है···।'

'ओफ़ ! ऐसा संकट है ! बड़ी विपत्ति आ पड़ी है ।'

'यही नहीं, कितने ही भूखसे प्राण गवाँ रहे हैं ।'

'गरीबी···मृत्यु···अकाल···और फिर बीमारी··· अरे, इतनी परेशानियाँ हैं····· । क्या कोई ऐसा उपाय हो सकता है कि ये संतप्त लोग बच सकें ?' वह सोच-विचारमें पड़ गया ।

मातृभूमिके निवासियोंकी करुण गाथा सुनकर कौशल-नरेशकी आँखोंमें आँसू आ गये । देशवासियोंके सुख-दुःखको ही वे अपना सुख-दुःख मानते थे । छोटे-छोटे अज्ञानी पशु-पक्षियोंतकको जन्मस्थान तथा उसके प्राणियोंसे मोह रहता है । पक्षी दिनभर न जाने कहाँ उड़ते रहते हैं, किंतु संध्या होते ही वे दूर-दूर दिशाओंसे पंख फड़फड़ाते हुए जन्म-भूमिपर लौट आते हैं । नगरसे दूर निकल जानेवाली गाय दिनभर घूम-फिरकर शामको खूँटेकी स्मृतिमें रँभाने लगती है । घरपर आकर ही उसे संतोष मिलता है । कौशलनरेश अपनी प्रजाके दुःखोंको अधिक न सुन सके ।

वे अनुभव कर रहे थे कि उनकी प्रजाको आर्थिक सहायताकी आवश्यकता थी । जिस देशका राजा या शासक अपने देशके कल्याणमें अपना कल्याण, अपने देशवासियोंके अभ्युदयमें अपना अभ्युदय और अपनी प्रजाके कष्टोंमें अपना कष्ट समझता है, वही सच्चा शासक है और वही उन्नति करता है ।

किंतु वे तो आज स्वयं फटी हालतमें थे । अपनी प्यारी प्रजाको सहायता देनेके लिये उनके पास एक फूटी कौड़ी न थी । सब कुछ छिन चुका था । कोई राजसी जेवर भी नहीं था, जो बेचकर कुछ सहायता पहुँचाते··· वे तो आज अपने प्राण बचानेके लिये खुद ही मिथिला-राज्यकी खूनी नजरोंसे बचे फिर रहे थे···।

वे किसीको क्या आर्थिक सहायता देते ?

वे सोचने लगे, 'जिस देशके बालक, वृद्ध, स्त्रियाँ और युवक अपने राष्ट्रकी बलिवेदीपर अपने स्वार्थोंको चढ़ाकर उसपर तन, मन, धन न्यौछावर कर देते हैं, वही देश संसारमें महान् शक्तिशाली राष्ट्र समझा जाता है।···भारतमें अनेक देशभक्तोंकी वीर-गाथाएँ भरी पड़ी हैं, जिन्होंने देशहितके लिये बड़े-से-बड़े त्याग किये हैं । यही कारण है कि भारतमें आज भी गौरवशाली परम्पराएँ चली आ रही

हैं।'''हमारे यहाँके देशभक्तोंने अपनी स्वाधीनता और देशकी खातिर हँसते-हँसते अपने प्राण बलिदान कर दिये हैं।'''लेकिन मैं क्या करूँ? प्रजाकी आर्थिक विपत्तिको क्योंकर दूर करूँ?'''कैसे इन्हें कुछ धन-सम्पत्तिका सहारा मिले?' वे सोचते रहे'''।

जो गहराईसे सोचता है, उसे अन्ततः कोई उपाय मिल ही जाता है। कौशलनरेशके मनमें अटूट देश-प्रेम था। वे प्रजाको प्राणोंसे भी बढ़कर मानते थे। उन्होंने निर्णय किया कि अपने दुखी देशवासियोंके लिये वे व्यक्तिगत लाभ-हानिकी ओर ध्यान न देकर पूर्णशक्तिसे कुछ करेंगे।

उन्हें एक अजीब उपाय सूझा—

वे उस गाँवके कुछ वृद्ध पुरुषोंको साथ लेकर निर्भयता-पूर्वक अपने प्राणोंके प्यासे दुष्ट मिथिलानरेशके यहाँ जा पहुँचे।

जिनके लिये राजाने एक हजार स्वर्णमुद्राओंके इनामकी घोषणा की थी, उन्हें स्वयं ही आते देख मिथिला-नरेश आश्चर्यमें आ गये।

'मैंने इस व्यक्तिको गिरफ्तार करानेके लिये इनामकी घोषणा की थी। कोई इसे न पकड़ सका। अहा! आज वह सोनेकी चिड़िया स्वयं ही पिंजरेमें आ फँसी है। अब इसे फाँसीके तख्तेपर लटकाकर हमेशाके लिये काँटा निकाल डालूँगा!'

'मैं खुद ही आ गया हूँ आपके पास मिथिलानरेश!'

'लेकिन ये गाँवके कुछ वृद्ध पुरुष आपके साथ क्यों हैं?'

'मैं कौशलनरेश हूँ। मेरी ही गिरफ्तारीके लिये एक हजार स्वर्ण-मुद्राएँ देनेकी घोषणा आपने की थी। ये वृद्ध आजकल आर्थिक परेशानियोंमें हैं। इनकी वर्षभरकी खेती नष्ट हो गयी है। खानेको गाँवमें कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ—दाने-दानेको मुहताज हैं।'''सभी युवक मेरी फौजमें भर्ती होकर आपके विरुद्ध लड़कर प्राण गवाँ चुके हैं''''''।'

'हम समझे नहीं, क्या मतलब है आपका?' शत्रुपक्षके राजाने पूछा।

'मिथिलानरेश! मेरे पकड़नेके लिये एक हजार स्वर्ण-मुद्राएँ देनेकी जो घोषणा आपने की थी, सो वे मुद्राएँ गाँवके इन वृद्ध पुरुषोंको दे दी जायँ। उससे ये अपना तथा गाँवके गरीब परिवारोंका भूखा पेट भरेंगे। देशके लिये मेरा शरीर बिक जाय; मेरी प्रजाको कुछ राहत मिले, तो मैं मरना पसंद करता हूँ। इस मुसीबतके समय इन्हें आर्थिक सहायता देनेके लिये अपने शरीरके अतिरिक्त मेरे पास कुछ भी नहीं है। यह शरीर देशका है।'''मैं तो प्रजाका सेवकमात्र हूँ।'''यह शरीर देशको ही अर्पित है'''शरीर नाशवान् है।'''आज नहीं तो कल नष्ट होना ही है।'''यदि यह देशवासियोंके लिये बलिदान हो, तो इससे बड़ा सुख भला राजाके लिये क्या हो सकता है?'''मैं देशवासियोंको आर्थिक सहायता देनेके लिये आपको बेचता हूँ।'

लोग यह सुनकर चकित रह गये।

देशभक्त राजाके आत्मसमर्पणकी बात सुनकर सबपर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा। जब इन्हें पूरी घटना विदित हुई कि भूखे मरते प्रजाजनोंकी आर्थिक सहायताके लिये कौशलनरेश अपना सर्वस्व दे रहे हैं, तो उनकी उदारता और देशभक्ति देखकर श्रद्धासे सबका मस्तक नीचा हो गया।

मिथिलानरेशको स्वयं अपनी नीचाशयता, क्रूरता और गर्वपर पछतावा होने लगा।

'हाय! मैंने क्षुद्र स्वार्थवश होकर कौशलराज्यको कैसा उजाड़ दिया है। असंख्य युवकोंकी मृत्युका पाप मेरे सिरपर चढ़ा हुआ है। मैं कितना क्षुद्र हूँ कि निर्बल राज्यपर यों अत्याचार कर रहा हूँ। मेरे हाथोंमें हत्याओंका उष्ण रक्त लगा है, जो कभी न धुल सकेगा। उफ्! मैंने कैसा जघन्य नैतिक अपराध किया है। कितने ही निरपराधियोंको यों ही प्रमादवश मौतके घाट उतार दिया है।'

पश्चात्तापकी अग्नि धधक उठी उनके हृदयमें और उसने वहाँ जमे हुए स्वार्थ, निर्दयता आदिके दुर्गन्धभरे कूड़े-कर्कटको जलाकर शुद्ध कर दिया। अतः उन्हें प्रायश्चित्तका एक उपाय सूझा।

मिथिलानरेशने आगे बढ़कर बड़े स्नेहसे उनको गले लगा लिया और कहा—'राजन्! आप-जैसे मनस्वी ही संसारके मुकुटमणि हैं, जो सब तरहके विरोधोंकी परवाह न कर एकाग्रतासे लक्ष्यकी ओर बढ़ते रहते हैं। मैंने आज आपसे सीखा है कि शुभ कार्योंमें लगनेवाले यथार्थ उन्नति और विमल विकासकी ओर बढ़नेवालोंके समक्ष एक ही मार्ग है—दृढ़तासे अपने लक्ष्यकी ओर निरन्तर गतिशील रहना। एक बार शुभ लक्ष्य और उत्कृष्ट मार्गका चुनाव कर फिर उस ओर निरन्तर आगे बढ़ते रहना कर्मवीरोंके लिये आवश्यक है। मार्गमें क्या मिलता है, किन अवरोधोंका

सामना करना पड़ता है, क्या परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं, इसकी परवाह किये बिना देशसेवा करते चलना—ऐसे उदार-हृदय देशभक्त तपस्वीका राज छीनकर मैं अपनेको कलंकित नहीं करना चाहता।'

उन्होंने जीता हुआ सारा इलाका कौशलनरेशको लौटा दिया और क्षतिपूर्तिके लिये भरसक प्रयत्न किया। तबसे वे हर प्रकार कौशलराज्यके विकासके लिये सहायता करते रहे।

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते॥

अर्थात्—जो पुरुष उपकारी व्यक्तिके प्रति सज्जनता दिखलाता है, उसकी सज्जनताका कोई मूल्य नहीं है। सज्जनता या साधुता तो वही है, जो दुर्जनके प्रति सज्जनता-पूर्ण व्यवहार दिखलाये और सच्चा साधु भी वही है, जो दुष्टके प्रति भी साधुताका ही व्यवहार करे।

गाँधी-शताब्दीके मङ्गल प्रसंगमें गांधी-वाणी

(१)

मातृभाषा—शिक्षाका शक्तिशाली माध्यम

हमने मातृभाषाका अनादर किया है। इस पापका कड़वा फल हमें जरूर भोगना पड़ेगा। हमारे और हमारे घरके लोगोंके बीच कितना ज्यादा फर्क पड़ गया है, इसके साक्षी इस सम्मेलनमें आनेवाले हम सभी हैं। हम जो कुछ सीखते हैं, वह हम अपनी माताओंको नहीं समझाते और न समझा सकते हैं। जो शिक्षा हमें मिलती है, उसका प्रचार हम अपने घरमें नहीं करते और न कर सकते हैं। ऐसा दुःसह परिणाम अंग्रेज-कुटुम्बोंमें कभी नहीं देखा जाता। इंग्लैंडमें और दूसरे देशोंमें जहाँ शिक्षा मातृभाषामें दी जाती है, वहाँ विद्यार्थी स्कूलोंमें जो कुछ पढ़ते हैं, वह घर आकर अपने-अपने माता-पिताको कह सुनाते हैं और घरके नौकर-चाकरों और दूसरे लोगोंको भी वह मालूम हो जाता है। इस तरह जो शिक्षा बच्चोंको स्कूलमें मिलती है, उसका लाभ घरके लोगोंको भी मिल जाता है। हम तो स्कूल-कालेजमें जो कुछ पढ़ते हैं, वह वहीं छोड़ आते हैं। विद्या हवाकी तरह बहुत आसानीसे फैल सकती है। किंतु जैसे कंजूस अपना धन गाड़कर रखता है, वैसे ही हम अपनी विद्याको अपने मनमें ही भरे रखते हैं और इसलिये उसका फायदा औरोंको नहीं मिलता। मातृभाषाका अनादर माँके अनादर-के बराबर है। जो मातृभाषाका अपमान करता है, वह देश-भक्त कहलाने लायक नहीं है। बहुत-से लोग ऐसा कहते सुने जाते हैं कि हमारी भाषामें ऐसे शब्द नहीं हैं, जिनमें हमारे ऊँचे विचार प्रकट किये जा सकें। किंतु यह कोई भाषाका दोष नहीं है। भाषाको बनाना और बढ़ाना हमारा अपना ही कर्तव्य है। एक समय ऐसा था, जब अंग्रेजी भाषाकी भी यही हालत थी। अंग्रेजोंका विकास इसलिये हुआ कि अंग्रेज आगे बढ़े और उन्होंने भाषाकी उन्नति कर ली। यदि हम मातृभाषाकी उन्नति नहीं कर सके और हमारा यह सिद्धान्त रहे कि अंग्रेजीके जरिये ही हम अपने ऊँचे विचार प्रकट कर सकते हैं और उनका विकास कर सकते हैं तो इसमें जरा भी शक नहीं कि हम सदाके लिये गुलाम बने रहेंगे। जबतक हमारी मातृभाषामें हमारे सारे विचार प्रकट करनेकी शक्ति नहीं आ जाती और जबतक वैज्ञानिक शास्त्र मातृ-भाषामें नहीं समझाये जा सकते, तबतक राष्ट्रको नया ज्ञान नहीं मिल सकेगा। यह तो स्वयंसिद्ध है कि—

१—सारी जनताको नये ज्ञानकी जरूरत है,

२—सारी जनता कभी अंग्रेजी नहीं समझ सकती,

३—यदि अंग्रेजी पढ़नेवाला ही नया ज्ञान प्राप्त कर सकता हो तो सारी जनताको नया ज्ञान मिलना असम्भव है।

इसका मतलब यह हुआ कि यदि पहली दो बातें सही हों, तो जनताका नाश ही हो जायगा। किंतु इसमें भाषाका दोष नहीं है। तुलसीदासजीने अपने दिव्य विचार हिंदीमें व्यक्त किये हैं। रामायण-जैसे ग्रन्थ बहुत ही थोड़े हैं। गृहस्थाश्रमी होकर भी सब कुछ त्याग कर देनेवाले महान् देशभक्त भारतभूषण पण्डित मदनमोहन मालवीयजीको अपने विचार हिंदीमें प्रकट करनेमें जरा भी कठिनाई नहीं होती। पण्डितजीका अंग्रेजी-भाषण चाँदीकी तरह चमकता हुआ कहा जाता है, किंतु उनका हिंदी-भाषण इस तरह चमकता है, जैसे मानसरोवरसे निकलती हुई गङ्गाका प्रवाह सूर्यकी किरणोंसे सोनेकी तरह चमकता है। मैंने कितने ही मौलवियोंको धर्मोपदेश करते हुए सुना है। वे अपने गम्भीर विचार भी अपनी मातृभाषामें ही बड़ी आसानीसे प्रकट कर सकते हैं। तुलसीदासजीकी भाषा सम्पूर्ण है, अमर है। यदि इस भाषामें हम अपने विचार प्रकट न कर सकें तो दोष हमारा ही है।

ऐसा होनेका कारण स्पष्ट है—हमारी शिक्षाका माध्यम अंग्रेजी है। इस भारी दोषको दूर करनेमें सब मदद कर सकते हैं। मुझे लगता है कि विद्यार्थीगण भी इस मामलेमें

सरकारसे विनयपूर्वक यह बात कह सकते हैं। साथ ही विद्यार्थियोंके पास तुरंत प्रारम्भ करने लायक यह भी है कि वे जो कुछ स्कूलमें पढ़ें, उसका अनुवाद हिंदीमें करते रहें; जहाँतक हो सके उसका प्रचार घरमें करें और आपसके व्यवहारमें मातृभाषाका ही उपयोग करनेकी प्रतिज्ञा कर लें। एक विहारी दूसरे विहारीके साथ अंग्रेजी भाषामें पत्र-व्यवहार करे, यह मेरे लिये तो असह्य है। मैंने लाखों अंग्रेजोंको बातचीत करते सुना है। वे दूसरी भाषाएँ जानते हैं, किंतु मैंने दो अंग्रेजोंको आपसमें परायी भाषामें बोलते नहीं सुना। जो अत्याचार हम भारतमें करते हैं, उसका उदाहरण दुनियाके इतिहासमें कहीं नहीं मिलेगा।

एक वेदान्ती कवि लिख गया है कि जो शिक्षा विचार करना नहीं सिखाती, वह व्यर्थ है; किंतु ऊपर बताये हुए कारणोंसे विद्यार्थियोंका जीवन बहुत-कुछ विचार-शून्य दिखायी देता है। विद्यार्थी तेजहीन हो गये हैं। उनमें ताजगी दिखायी नहीं देती और वे अधिकतर उत्साहहीन दृष्टिगोचर होते हैं।

× × × ×

—'शिक्षण और संस्कृति', पृ० १७०–१७२

(२)
शिक्षाके माध्यमके सम्बन्धमें एक थोथी दलील

ऐसी दलील दी गयी है कि रुपया कमानेके लिये और देश-हितके विचारसे अंग्रेजोका जो उपयोग किया गया है उसमें दोषकी कोई बात नहीं है; किंतु जब हम शिक्षाके माध्यमका विचार करते हैं, तब यह दलील उचित नहीं जान पड़ती। यदि रुपया कमानेके लिये अथवा देश-हितके विचारसे कुछ लोग अंग्रेजी सीखें, तो हम उन्हें सादर प्रणाम करेंगे, परंतु इसी कारण हम अंग्रेजी भाषाको शिक्षाका माध्यम नहीं स्वीकार कर सकते। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उपर्युक्त बातोंके कारण अंग्रेजी भाषाको शिक्षाके माध्यमके रूपमें भारतमें जो स्थान मिला है, उसका परिणाम दुःखद हुआ है। कुछ लोग कहते हैं कि अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त लोग ही देशभक्त हुए हैं, परंतु पिछले दो महीनोंसे तो हमें इससे बिल्कुल उलटी बात नजर आ रही है। यदि हम अंग्रेजीका यह दावा मान भी लें तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त लोगोंके सामने दूसरोंको मौका ही नहीं मिला। इसके सिवा अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त लोगोंके देश-प्रेमका प्रभाव जनसाधारणपर नहीं पड़ा। सच्चे देश-प्रेमको तो व्यापक होना चाहिये। इनके देश-प्रेममें यह गुण दिखायी नहीं देता।

—'शिक्षण और संस्कृति', पृ० १७२-१७३

(३)
शिक्षाके माध्यमकी समस्या

···'हमारी शिक्षा-प्रणालीमें अंग्रेजी भाषाकोदेशी भाषाओंसे उच्च स्थान दिया गया है। यह कैसी अस्वाभाविक घटना है! अंग्रेजी भाषाके पक्षपातियोंका मत है कि छोटी-से-छोटी अवस्थामें ही अंग्रेजी भाषाको शिक्षाका माध्यम बना देना चाहिये। इसके लिये ये लोग उदाहरण पेश करते हैं कि विदेशोंमें छोटी अवस्थाके बालक भाषाको बड़ी आसानीसे सीख लेते हैं। इसका विरोध करते हुए कलकत्ता-विश्वविद्यालय-कमीशनने लिखा है—

'विदेशोंकी बात एकदम भिन्न है। वहाँ बालकोंके इर्दगिर्द वे ही लोग रहते हैं, जो सदा उसी भाषाका प्रयोग करते हैं, जिसे बालक सीख रहा है। पर यहाँ बात एकदम उलटी है। सिवा शिक्षाके उस भाषासे सब लोग अनभिज्ञ रहते हैं। अर्थात् स्कूलके दर्जेके सिवा बालकको फिर उस भाषाके सुनने और बोलनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। संक्षेपमें, विदेशोंमें तो एक भाषाका ज्ञान करानेके लिये परिस्थितियाँ समान हैं। कक्षाओंमें शिक्षाका जो तरीका है, उसको सफलता-पूर्वक चलानेके लिये बहुत अनुभवकी आवश्यकता है।

हमलोग इस बातपर सदा जोर देते आये हैं कि देशी भाषाद्वारा शिक्षा देनेसे हमारी शिक्षाका व्यय भी घट जायगा। हर्षके साथ लिखना पड़ता है कि इस बातको कमीशनने भी स्वीकार किया है।···'कलकत्ता-विश्वविद्यालयकी सिफारिशें हमें एक कदम बढ़ानेके लिये उत्साहित करती हैं। इसके बाद विश्वविद्यालयोंमें देशी भाषाओंके प्रयोगकी विधि होनी चाहिये। सेडलर कमीशनने अपनी सिफारिशोंमें लिखा है कि मैट्रीकुलेशन तक तो देशी भाषामें शिक्षा दी जानी चाहिये, पर कालेजकी शिक्षाके लिये उसने भी देशी भाषाओंकी सिफारिश नहीं की है। भविष्यके लिये उसने दोनों भाषाओंके प्रयोगकी सलाह अवश्य दी है।

''मार्डन रिव्यू'के सम्पादक श्रीरामानन्द चटर्जीका वक्तव्य और भी अधिक व परिपक्व है। उन्होंने कहा था 'देशी-भाषाको शिक्षाका माध्यम बनाना इतना आवश्यक है कि उसको किसी भी प्रकार टाला नहीं जा सकता। जो कुछ एतराज किये गये हैं, उनका स्थायी महत्त्व कुछ भी नहीं है; क्योंकि जिन भाषाओंको लोग आज सर्वोच्च स्थान देनेके लिये तैयार हैं, किसी समय उनकी भी यही दशा थी। उनकी उन्नति प्रयोगसे ही हुई और उसी तरह प्रयोगसे हमारी भाषाकी भी उन्नति हो सकती है।'

—'शिक्षण और संस्कृति', पृ० १८२-१८३

(४)

अंग्रेजी माध्यम-एक दारुण राष्ट्रीय विपत्ति

समाजकी सबसे बड़ी सेवा जो हम कर सकते हैं, वह यह है कि हमने अंग्रेजी भाषाकी शिक्षाके प्रति जो अन्ध-विश्वासपूर्ण सम्मान करना सीखा है उससे स्वयं मुक्त हों और समाजको मुक्त करें। अंग्रेजी हमारे स्कूलों तथा हमारे कालेजोंमें शिक्षाका माध्यम है। यह देशकी अन्तर्भाषा बनती जा रही है। हमारे सर्वोत्तम विचार इसीमें व्यक्त किये जाते हैं। लार्ड चेम्सफोर्डने यह आशा व्यक्त की है कि अंग्रेजी कुछ ही दिनोंमें उच्च परिवारोंकी मातृभाषा बन जायगी। अंग्रेजी-प्रशिक्षणकी आवश्यकताके बारेमें इस प्रकारके विश्वासने हमें गुलाम बना दिया है। इसने हमें सच्ची राष्ट्रीय सेवाके अयोग्य बना दिया है। यदि हम स्वभावसे बाध्य न होते तो हम यह अवश्य ही देख सकते थे कि अंग्रेजी-को शिक्षाका माध्यम बनानेके कारण हमारी प्रतिभा ऐकान्तिक हो गयी है और जनताको नवीन उपलब्ध विचारोंका लाभ नहीं मिल पाया है। हमने ये पिछले ६० वर्ष विचित्र शब्दों तथा उनके उच्चारणोंको सीखनेमें ही व्यतीत कर दिये हैं, तथ्योंको आत्मसात् नहीं किया है। हमें अपने अभिभावकों-से जो शिक्षा मिली थी, उसके आधारपर हमने नया निर्माण नहीं किया है, बल्कि उस शिक्षाको ही लगभग भुला दिया है। इतिहासमें इस (मूर्खता) की तुलना नहीं है। यह एक दारुण राष्ट्रीय विपत्ति है। पहली और सबसे बड़ी समाज-सेवा जो हम कर सकते हैं, वह यह है कि हम इस स्थितिसे पीछे हटें, देशी भाषाओंको अपनायें, हिंदीको राष्ट्रभाषाके रूपमें उसके स्वाभाविक पदपर पुनः प्रतिष्ठित करें और सभी प्रान्त अपना-अपना समस्त कार्य अपनी देशी भाषामें तथा राष्ट्रका कार्य हिंदीमें प्रारम्भ कर दें। हमें तबतक विश्राम नहीं लेना चाहिये, जबतक कि हमारे स्कूलों और कालेजोंमें हमें देशी भाषाओंके माध्यमसे शिक्षा नहीं दी जाती। हमारे लिये अपने अंग्रेज मित्रोंके निमित्त भी अंग्रेजीमें बोलना आवश्यक नहीं होना चाहिये। प्रत्येक अंग्रेज शासनिक तथा सैनिक अधिकारीको हिंदी जाननी चाहिये। —'शिक्षण और संस्कृति' (पृ० १८०-१८१

अपने ऐबोंपर नजर कर !

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

बात है सन् १९६२ की।

विनोबाजीकी पुस्तक 'रूहुल कुरान' (कुरान सार.) छप रही थी। हम सबकी इच्छा हुई कि डाक्टर जाकिर हुसेन साहबसे उसकी भूमिका लिखायी जाय। उन दिनों वे गवर्नर थे बिहार राज्यके।

हमारे भाई जान अहद फातमी (सम्पादक 'भूदान-तहरीक') ने जाकिर साहबसे इसके लिये प्रार्थना की। दो पत्र भी लिखे

× × ×

कुरानशरीफके अनमोल मोतियोंका संचयन और सो भी विनोबा-जैसे संत पुरुषके द्वारा।

और उस अमूल्य कृतिकी भूमिकाका प्रश्न।

कौन न कृतकृत्य हो उठेगा ऐसी सम्मानजनक फर्मायशसे ?

पर जाकिर साहब उसकी भूमिका, उसका मुकद्दमा, उसका पेश-लफ्ज नहीं लिख सके, नहीं लिख सके।

आखिर क्यों ?

× × ×

'गीता-प्रवचन' में विनोबा कहते हैं—

महाभारतमें तुलाधार वैश्यकी कथा है। जाजलि नामक ब्राह्मण तुलाधारके पास ज्ञान-प्राप्तिके लिये जाता है। तुलाधार उससे कहता है—'भैया! इस तराजूकी डंडीको सदा सीधा रखना पड़ता है।' इस बाह्य कर्मको करते हुए तुलाधारका मन भी सीधा सरल हो गया। छोटा बच्चा दुकानमें आ जाय या जवान आदमी, उसकी डंडी सबके लिये एक-सी रहती है। न ऊँची, न नीची।

···तराजूकी डंडीसे तुलाधारको समवृत्ति मिली।

सेना नाई बाल बनाया करता था। दूसरोंके सिरका मैल निकालते-निकालते उसे ज्ञान हुआ—'देखो, मैं दूसरोंके सिरका मैल निकालता हूँ, परंतु क्या खुद कभी अपने सिरका, अपनी बुद्धिका भी मैल मैंने निकाला है ?' ऐसी आध्यात्मिक भाषा उस कर्मसे सूझने लगी। खेतका कचरा निकालते-निकालते कर्मयोगीको खुद अपने हृदयका वासना-विकाररूपी कचरा निकालनेकी बुद्धि उपजती है।

कच्ची मिट्टीको रौंद-रौंदकर समाजको पक्की हँड़िया

बना देनेवाला गोरा कुम्हार उससे यह शिक्षा लेता है कि मुझे भी अपने जीवनकी हँड़िया पक्की बना लेनी चाहिये। इस तरह वह हाथमें थपकी लेकर हँड़िया कच्ची है या पक्की ? यों संतोंकी परीक्षा लेनेवाला परीक्षक बन जाता है।

× × ×

तो जाकिर साहबके सामने जब 'रूहुल कुरान' का मसविदा पेश हुआ तो वे भी जीवनकी गहराईमें उतर पड़े।

मनुष्य जब आत्मविश्लेषण करता है, अपने दिलके भीतर झाँकता है, अपनी असलियतपर गौर फरमाता है तो उसकी रूह काँप उठती है। दम्भियों और पाखण्डियों-की बात छोड़िये, वे तो दुनियादारीके चक्करमें रहते हैं और रात-दिन ऐबको हुनर दिखलानेकी कोशिश करते हैं। दोषों-को गुण बतानेकी चेष्टामें लगे रहते हैं। कहा है—

ऐब ये है कि करो ऐब, हुनर दिखलाओ,
वर्ना यां ऐब तो सब फर्दोबशर करते हैं!

मनुष्य अपनी गलतीको गलती नहीं मानना चाहता। अपने दोषको दोष नहीं मानना चाहता। अपनी कमीको कमी नहीं मानना चाहता। कहेगा झूठ, उसपर मुलम्मा चढ़ायेगा सचका। करेगा गलत काम, कोशिश करेगा यह बतानेकी कि वह सही ही कर रहा है। खुद अन्याय करेगा पर बतायेगा इस तरह कि दूसरा अन्याय कर रहा है।

और यदि कभी मान भी लिया कि गलती हुई तो कह देगा कि 'To err is human'—'मनुष्यमात्रसे गलती होती है। मैं भी उसका अपवाद नहीं।'

× × ×

पर साधकोंका, जिज्ञासुओंका, महापुरुषोंका तरीका ही दूसरा होता है। अपने राई-जैसे जरा-से दोषको वे पहाड़-जैसा बड़ा मानते हैं। गांधीसे छोटी-सी भूल होती तो वे उसे 'Himalayan Blunder'—'हिमालय-जैसी भूल' बताते। उसके लिये सच्चे जीसे पश्चात्ताप करते।

जाकिर साहबका भी यही तरीका था।

विनोबाजीकी 'रूहुल कुरान' उनकी आँखोंके आगे थी और वे जीवनकी गहराइयोंमें उतर जाते।

'कहाँ कुरानशरीफकी नसीहतें और कहाँ मैं!'

एक दिन, दो दिन, चार दिन—यह संघर्ष चलता रहा।

आखिर २४ फरवरी ६२ को उन्होंने अपने दिलकी हालत कागजपर उतार कर भाई जान फातमी साहबके पास रवाना ही कर दी। पत्र क्या है—

काग़ज़ पै रख दिया है कलेजा निकाल कर।

लिखा उन्होंने—

राजभवन, पटना
ता० २४।२।६२

मुकर्रमी[1] जनाब फातमी साहब,
आसूसलाम अलैकुम।

दोनों नवाजिशनामे मिले। याद फरमाईका शुक्रिया और ताखीरे[2] जवाबकी माजरत कबूल फरमाइये। मैंने विनोबाजीका इंतेखाबे कुरान मजीद गौरसे देखा। बहुत अच्छा है। इससे मुस्लिम और गैरमुस्लिम सब कुरानकी तालीमको आसानीसे समझ सकेंगे। खुदा उनकी सभी[3] मशकूरें[4] फरमाये।

मुकद्दमा[5] या पेश-लफ्ज लिखनेकी बहुत कोशिश की। मगर कुछ न बन सका। रह-रहकर यह खयाल कि तालीमाते[6] कुरानीकी तामीलेंमें[7] क्या-क्या कोताहियाँ[8] मुझसे सरज़द होती हैं और अपनी जिंदगी उस नक्शेसे कितनी दूर है, जो कुरान चाहता है, कुछ लिखनेकी हिम्मत नहीं करने देता। किसी दूसरेको अपनी इस कैफियत[9] का समझाना दुस्वार[10] है। मगर यकीन फरमाइये, कि सच है, और बावजूद कोशिशके उसने कुछ न लिखने दिया। उम्मीद है कि आप मेरी माजूरी[11] को समझ सकेंगे और मुझे माफ़ फ़रमा देंगे।

अगर बात विनोबातक पहुँच चुकी है तो उनसे भी माफ़ करा देंगे। मेरे दिलमें उनका जो इहतराम[12] है, उसे बआसानी लफ्ज़ोंमें बयान नहीं कर सकता। मसविदे रजिस्टर डाकसे बीमा करके वापिस करता हूँ।...

मुखलिस—
सही—जा० हु०

पिछले दिनों जब 'रूहुल कुरान' वाली फाइल उलट रहा था तो जाकिर साहबका यह खत पढ़कर आँखें भर

१ कृपापत्र, २ विलम्ब, ३ पराक्रम, ४ यशस्वी, ५ भूमिका, ६ शिक्षा—उपदेश, ७ व्यवहार, ८ कमियाँ, ९ हालत, १० कठिन, ११ विवशता, १२ आदर।

आयीं। कितने ऊँचे, पवित्र और नम्र थे हमारे ये राष्ट्रपति, जो कहते थे—

"...... रह-रहकर यह खयाल कि तालीमात कुरानीकी तालीममें क्या-क्या कौताहियाँ मुझसे सरज़द होती हैं और अपनी ज़िंदगी उस नक्शेसे कितनी दूर है, जो कुरान चाहता है, कुछ लिखनेकी हिम्मत नहीं करने देता है।"

× × ×

धर्मग्रन्थ सभी लोग पढ़ते हैं।

मन्त्र, स्तोत्र, भजन भी लाखों-करोड़ों लोग जपते हैं, पाठ करते हैं, गुनगुनाते हैं।

पर जीवनकी गहराइयोंमें कितने लोग उतरते हैं?

मनुष्य जब जीवनके भीतरी पर्देपर नजर डालता है, तब न उसे पता चलता है कि वह कहाँ है! उसकी असली तसवीर क्या है, कैसी है!

तभी न उसके रोम-रोमसे यह आवाज उठती है—

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

आत्मविश्लेषण ही मनुष्यको ऊपर उठा सकता है। पापीको धर्मात्मा बना सकता है। नीचको ऊँच बना सकता है। असंतको संत बना सकता है। अपवित्रको पवित्र बना सकता है, दुष्टको साधु बना सकता है।

बाहरसे हम चाहे जितने बड़े, ऊँचे, पवित्र माने जाते हों, उससे क्या बनता-बिगड़ता है? बात तो है भीतरकी।

हमारा दिल कैसा है?

हमारा हृदय कैसा है?

वस्तुतः हम हैं कैसे?

हमारे भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरके विकार ठूँस-ठूँसकर भरे हैं।

इन विकारोंपर कभी हमारी दृष्टि जाती है?

जी नहीं, इनकी तरफ हम फूटी आँख भी ताकना नहीं चाहते। तब तो हो चुका हमारा उद्धार!

× × ×

हम यदि सच्चे अर्थमें मनुष्य बनना चाहते हैं, अपने भीतर मानवीय गुणोंका विकास करना चाहते हैं, अपनी आजकी शोचनीय स्थितिसे ऊपर उठना चाहते हैं, सच्चे जिज्ञासु, साधक, भक्त या ज्ञानी बनना चाहते हैं तो हमें अपने हृदयकी गहन-गुफामें उतरना ही पड़ेगा।

अपने भीतर जो बुराइयाँ भरी पड़ी हैं, जो कमियाँ भरी पड़ी हैं, उन्हें दूर किये बिना और हृदयको शुद्ध, पवित्र, निर्मल और निर्विकार बनाये बिना गति नहीं।

आइये, हम जाकिर साहबकी अलविदाके इन क्षणोंमें उनसे आत्मविश्लेषणकी शिक्षा लें, अपने दिलको धो-धोकर, माँज-माँजकर स्वच्छ और पवित्र बनायें। अपनेको हम निर्विकार बनायें।

अपने ऐबों पर नजर कर अपने दिल को पाक कर।
क्या हुआ गर खल्क में तू पारसा मशहूर है!

जिस क्षणसे हम अपने दिलको पाक करनेके, पवित्र करनेके पराक्रममें जुट जायेंगे, उसी क्षणसे हमारा जीवन पवित्रसे पवित्रतर, उच्चसे उच्चतर और उत्तमसे उत्तमतर होता चलेगा। इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं।

शुभं भूयात्!

नित्य भगवान्को भजो और उन्हींके मनभाये सत्कर्म करो

देखो अपने दोष, न देखो दोष पराये भूल कभी।
दोष मिटानेमें लग जाओ, करो प्रयोग उपाय सभी॥
बनकर विनय-विनम्र, छोड़ मद-मान, मान-सत्कार करो।
गुणी जनोंके गुण ले-लेकर उनसे अपना हृदय भरो॥
सदा सतर्क रहो, रञ्चक भी दोष न उर रहने पाये।
भजो नित्य भगवान्, करो सत्कर्म उन्हींके मनभाये॥

ब्राह्मण अपनी भंगिन बूआके मकानपर भेंट लेकर गया

[सुप्रसिद्ध कथावाचक पूज्य पं० श्रीमथुराप्रसाद शर्माजी महाराजकी जबानी]

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

बिल्कुल सत्य घटना

पिछले वर्षकी बात है। हम कार्तिक पूर्णिमाके मेलेपर भारतके सुप्रसिद्ध महान् तीर्थ श्रीगढ़मुक्तेश्वर गये हुए थे। वहाँ घूमते-घूमते सहसा हमें मेरठका सनातनधर्म-रक्षिणी सभाका कैम्प दिखायी पड़ा। अंदर जाकर देखा तो सनातनधर्मके विद्वान् पूज्य आचार्य श्रीरामजी शास्त्री, वागीशजी महाराज, पूज्य पं० श्रीगंगाशरणजी रामायणी और पूज्य पं० श्रीमथुराप्रसाद शर्मा व्रजवासीजी महाराज कथावाचक आदि पूज्य भूदेव ब्राह्मण विराजमान थे। हमने सबके श्रीचरणोंमें प्रणाम किया। बात चलनेपर पूज्य कथावाचक —पं० श्रीमथुराप्रसाद शर्मा व्रजवासीजी महाराजने हम कट्टर सनातनधर्मी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदिका अपने चमार-भंगी आदि अन्त्यज बन्धुओंसे कैसा विलक्षण प्रेम था, इस सम्बन्धकी अपने स्वयंके जीवनमें घटी बिल्कुल सत्य घटना सुनायी, जिसे सुनकर सभी गद्‌गद हो गये। आपने कहा—

भक्त रामशरणदासजी! आज जो यह कहा जा रहा है कि पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि सनातनधर्मी लोगोंने चमार, भंगी आदि बन्धुओंके ऊपर अत्याचार किये हैं। यह बात इनकी बिल्कुल झूठी है और सबको आपसमें लड़ाकर तथा फूटके बीज बोकर हिंदू जातिका एवं देशका सर्वनाश करनेवाली है। पहले गाँवोंमें ब्राह्मणसे लेकर भंगी तक सब आपसमें बड़े प्रेमसे रहते थे। सब आपसमें एक दूसरेको यथायोग्य ताऊ, चाचा, बाबा, दादी मानते थे तथा कहते थे एवं एक दूसरेके दुःख-सुखमें शामिल होते थे। उन दिनोंकी बातें आज भी स्मरण करके हृदय गद्‌गद हो जाता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि पहलेके मनुष्य एक दूसरेका जूठा खाने-पीनेवाले आचारभ्रष्ट नहीं थे, पर उनका आपसका कैसा अद्भुत विलक्षण प्रेम था। इसे जरा सुनिये और इसपर विचार कीजिये।

मैं ब्राह्मण होकर अपने विवाहमें अपनी भंगिन बूआको भेंट लेकर उसके मकानपर कैसे गया?

यह लगभग संवत् १९७२ की बात है। मेरा विवाह था। बारात गयी थी जुनारदार गनौरा ग्राममें। जब मेरा विवाह सम्पन्न हो चुका और बारातके विदा होनेका दिन आया तो मेरे पूज्य पिताजीने अपने मनमें विचार किया कि इस गाँवमें हमारे गाँवकी कोई बेटी तो नहीं विवाही है? झटसे उन्हें यह स्मरण आया कि इस गाँवमें तो हमारे गाँवकी डालू भंगीकी लड़की विवाही है। फिर क्या था। पूज्य पिताजी दौड़े हुए मेरे पास आये और आकर मुझसे बोले—

पिताजी—अरे मथुरा!

मैं—हाँ पिताजी!

पिताजी—बेटा! तू जल्दीसे अपने नये कपड़े पहनकर तैयार हो जा। तुझे मेरे साथ चलना है।

मैं—कहाँपर चलना है पिताजी?

पिताजी—बेटा! इस गाँवमें तेरी एक बूआ विवाही है, उसके घरपर चलना है?

मैं—पिताजी! इस गाँवमें मेरी बूआ—कौनसी बूआ विवाही है?

पिताजी—अरे मथुरा! तुझे क्या पता—तू अभी बालक है। यहाँपर तेरी एक बूआ विवाही है। यदि हम उसके घरपर नहीं गये तो कोई क्या कहेगा और वह तेरी बूआ भी बुरा मानेगी, उसे दुःख होगा और हमारी बड़ी बदनामी होगी।

मुझे पिताजीके मुखसे यह सुनकर मन-ही-मन बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस गाँवमें तेरी बूआ विवाही है। मैंने मनमें विचार किया कि यदि इस गाँवमें मेरी बूआ विवाही होती तो क्या मैं अपनी उस बूआको अबतक कभी भी नहीं देखता और अपनी बूआको नहीं जानता? पिताजीके डरसे मैं ज्यादा कुछ नहीं बोला। बस, मैंने इतना पूछा—

मैं—पिताजी मुझे क्या करना है?

पिताजी—तुझे अपनी बूआको परोसे, साड़ी और ५) रु० भेंटमें देनेके लिये मेरे साथ चलना है।

पिताजीकी आज्ञाकी देर थी। मैं झटसे कपड़े पहनकर तैयार हो गया। पिताजीने एक थाल सजाया, जिसमें असली घीकी कचौड़ी, पूरी-मिठाई आदि परोसे रक्खे और एक सुन्दर साड़ी रक्खी और चाँदीके ५) रुपये रक्खे। आगे-आगे तासे-बाजे, ढपले बजते चले जा रहे थे और पीछे-पीछे पूज्य पिताजी और मैं अपनी बूआके यहाँपर जा रहे थे। नाई हाथमें थाल लिये जा रहा था। बड़ा ही अद्भुत दृश्य था। जब कुछ दूर आगे बढ़े तो एक मोहल्ला आया, जिसमें कुछ सूअर इधर-उधर घूम रहे थे। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम तो जातिके ब्राह्मण हैं। यहाँ हमारी बूआ इस सूअरोंके गंदे मोहल्लेमें कहाँपर विवाही है?

आगे जा करके देखा तो एक भंगीका घर आया। जब उस भंगी-लड़कीने तासे-ढपले बजनेकी आवाज सुनी तो वह झटसे समझ गयी कि मेरे गाँवके मेरे भैया-भतीजे आ रहे हैं। वह अपना सब काम छोड़कर दौड़ी हुई घरसे बाहर आयी और उसने आवाज देकर सबसे कहा कि 'जल्दी आओ, मेरे भैया-भतीजे आये हैं।' अब क्या था, अब तो सारा मोहल्ला इकट्ठा हो गया।

उस लड़कीके सामने आते ही पूज्य पिताजीने उससे कहा कि 'बीबी राम-राम।' उस लड़कीने कहा—'भैया! जीते रहो, तुम्हारी बड़ी उमर हो।' पिताजीने मुझसे कहा कि 'बेटा मथुरा! यह देख तेरी बूआ है, तू अपनी बूआको राम-राम कर।'

मैंने झटसे हाथ जोड़कर कहा कि 'बूआजी! राम-राम।' तो भंगीकी लड़कीने कहा—'भैया, तू जीता रह और तेरी बड़ी उमर हो, तू सुखी रह।' पिताजीसे उस भंगीकी लड़कीने पूछा कि 'भैया! तुम राजी हो?' पिताजीने कहा कि 'हाँ बीबी! मैं तो राजी हूँ। तुम सब राजी-खुशी हो?' भंगीकी लड़कीने कहा, 'हाँ भैया, सब राजी-खुशी हैं। भैया! मैं तो सबसे यह कह रही थी कि मेरे भतीजेकी इस गाँवमें बारात आयी है। मेरे भैया-भतीजे मुझसे मिलनेके लिये जरूर ही आयेंगे। मैं तो तुम्हारे आनेकी बाट देख रही थी।'

पिताजीने कहा कि 'बीबी! भला यह कैसे हो सकता था कि जब तेरे भतीजेका विवाह हुआ है, फिर भी हम तेरे यहाँपर न आते?'

इस प्रकार खूब घुट-घुटकर बातें होती रहीं।

पिताजीने मुझसे कहा कि 'मथुरा! अपनी बूआको यह मिठाई, साड़ी और ५) भेंटमें दे दे। मैंने झटसे उसे दे दिये और मेरी उस भंगीन बूआने अपना पल्ला पसारकर बड़े प्रेमसे ले लिये। वह बड़ी प्रसन्न हुई और उसने आशीर्वादोंकी झड़ी लगा दी।

जब हम अपनी बूआजीसे विदा होकर वहाँसे चलने लगे तो वह बूआ खूब प्रेमाश्रु बहा-बहाकर रोयी और उसे हमें विदा करते हुए बड़ा दुःख हुआ। इधर हमारे पूज्य पिताजीके भी आँसू बह रहे थे।

जब हम वापस जनवासेको लौटने लगे तो मैंने अपने पूज्य पिताजीसे पूछा कि 'पिताजी! यह मेरी बूआ कौन-सी है?'

पिताजी—'अरे मथुरा! तू नहीं जानता कि यह हमारे गाँवकी डाल्लू भंगीकी लड़की है, यह तेरी बूआ लगती है और मेरी बहन लगती है।

मैं—पिताजी! मैं तो ब्राह्मण हूँ, यह भंगीकी लड़की मेरी बूआ कैसे हो गयी?

पिताजी—तू बावला है। अरे बेटा मथुरा! तू इतना भी नहीं जानता कि हमारे गाँवकी जो भी बेटी है, वह रिश्तेमें हमारी भी बेटी लगती है। जब यह हमारे गाँवकी बेटी है तो मेरी बहन और तेरी बूआ नहीं तो और कौन है! डाल्लू भंगी मेरे ताऊजी हैं, इसलिये यह मेरी बहन है।

मैं यह सुनकर और इस प्रकारके आपसके अद्भुत विलक्षण प्रेमको देखकर आश्चर्यचकित रह गया। यह था हम कट्टर छुआछूत माननेवाले सनातनधर्मी हिंदुओंका आपसका अद्भुत दिव्य प्रेम, जो सारे विश्वमें ढूँढ़े भी नहीं मिलेगा। आजके पश्चिमीय सभ्यताके रंगमें रँगे मनचले बाबू लोग इस अद्भुत प्रेमके रहस्यको भला क्या समझें!

बोलो सनातनधर्मकी जय!



अमृतकण

[संकलित]

जिसका भगवान्पर विश्वास होता है, जो भगवान्के नामपर त्याग करना जानता है, जो दुःख और विपत्तियोंमें भी उन्हें भगवान्का आशीर्वाद मानकर—अपने मङ्गलकी चीज मानकर भगवान्का कृतज्ञ होता है, जो भगवान्की दी हुई बुरी-से-बुरी और दुःखसे भरी दीखनेवाली स्थितिमें भी भगवान्के मङ्गलमुखकी हास्य-छटाको देखकर हँसता है, कोई भी दुःख-भार भगवान्के विश्वासके मार्गसे जिसको नहीं डिगा सकता, जो हर-हालतमें हँसता हुआ भगवान्की हरेक दैनपर सच्चे दिलसे खुशी मनाता हुआ भगवान्के नामको पुकारता रहता है,—भगवान् उसके 'योगक्षेम'का वहन स्वयं करते हैं। उसका सारा भार अपने सिर उठा लेते हैं। यह सत्य है—ध्रुव सत्य है। हम अभागे मनुष्य विश्वासकी कमीसे ही दुःख-पर-दुःख उठाते हैं और भगवान्की बरसती हुई कृपासुधाधारासे वञ्चित रह जाते हैं !

× × ×

भगवान्के पथमें चलनेके लिये विशेष समझदारीकी जरूरत नहीं पड़ती, शास्त्रोंके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान-विज्ञानके गम्भीर रहस्योंकी छान-बीनकी—पुंखानुपुंख अनुसंधानकी आवश्यकता नहीं होती और न तत्त्वोंके विश्लेषणकी ही आवश्यकता है। आवश्यकता है एकमात्र हृदय-दानकी। प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें एक-न-एक दिन ऐसा आता ही है, जब वह भगवान्के संकेतको, प्रभुके इशारेको स्पष्ट देख-सुन पाता है। यह इशारा प्रत्येक प्राणीके लिये—जीवमात्रके लिये होता है। किंतु अधिकांश तो इसे देख-सुनकर भी अनदेखा-अनसुना कर देते हैं और जगत्के विषय-विलासोंमें ही रचे-पचे रह जाते हैं। कुछ ही ऐसे महाभाग होते हैं, जो उस इशारेपर अपने जीवनकी बलि देकर अपने-आपको, अपने लोक-परलोकको प्रभुके चरणोंमें निछावर कर देते हैं। ऐसोंका जीवन हरिमय हो जाता है। उनके सब कर्म श्रीकृष्णार्पण होते हैं। उनका खाना-पीना, सोना-जागना, उठना-बैठना, हँसना-खेलना, सब कुछ सहज ही भगवत्प्रीतिके लिये होता है।

× × ×

भगवान्का रहस्य, उनका प्रेम, उनकी लीला जाननेसे थोड़े ही जानी जाती है ? यह सब कुछ और इससे भी अधिक गोपनीय रहस्यकी बातें भगवान् अपने भक्तोंको स्वयं जना देते हैं और सच्चा जानना तो वस्तुतः तभी होता है, जब स्वयं श्रीभगवान् हमारे हृदय-देशमें अवतरित होकर हमें जनाते हैं—अपनी एक-एक बात कहते हैं। उनकी एक मृदुल मुस्कान, एक मन्द मधुर हास्यमें हमारे सारे प्रश्न, सारी पहेली, समस्त शङ्काएँ बह जाती हैं। जीवनकी गति गङ्गाके प्रवाहकी तरह अविच्छिन्नरूपसे श्रीकृष्णचरणोंकी ओर प्रवाहित होने लगती है; समस्त जगत् आनन्दके महासमुद्रमें डूब जाता है। श्रीकृष्णप्रेमके अतिरिक्त कोई वस्तु रह नहीं जाती। भगवान् भक्तको आलिङ्गनका सुख देकर प्रीतिसे उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गको शीतल कर देते हैं। उसे बरबस गोदमें उठा लेते हैं और पावन पीताम्बरसे उसके आँसू पोंछते हैं। प्रेमभरी दृष्टिसे देखते हुए उसे सान्त्वना देते हैं। ऐसी ही उनकी लीला है। अनेक भक्तोंका जीवन इसका साक्षी है। आज भी यह अनुभव दुर्लभ नहीं।

× × ×

कितनी गजबकी है उनकी प्रीति ! हम एक बार उनकी ओर देखते हैं तो वे लाख-लाख बार हमारी ओर दौड़ते हैं और हमारे प्रेमके ग्राहक बन जाते हैं। एक बार भी जो उनकी पकड़में आ गया, वह सदाके लिये उनका बन जाता है; जिसे वे एक बार छू देते हैं, उसे सदाके लिये ही अपना लेते हैं। प्रेमके लिये वह प्रेमका भूखा प्रभु दर-दर ठोकरें खा रहा है। घर-घर एक-एक व्यक्तिसे वह प्रेमकी भीख माँग रहा है। हम दुत्कारते हैं, फिर भी वह निपट-प्रेमी हमारी उपेक्षा, भर्त्सनाका ध्यान न कर बार-बार आता है और कहता है—'हे जीव ! प्रेमका एक बूँद देकर मुझे सदाके लिये खरीद लो। मैं तुम्हारा गुलाम बन जाऊँगा।'

परंतु हाय रे मनुष्यका अभाग्य ! इस अनोखे अतिथिकी प्रणय-भिक्षाकी ओर हमारी दृष्टि कभी जाती ही नहीं। हम डरते हैं कि एक बार उधर दृष्टि गयी नहीं कि हम बिके नहीं।

× × ×

कैसे-कैसे खेल हैं उस खिलाड़ीके ! उसकी ओर न झुको तो बार-बार दरवाजा खटखटाता है, रात-दिन परेशान

किये रहता है। न खाने देता है न सोने। लेकिन जब उसकी ओर प्राणोंकी हाहाकार लेकर मुड़ो, तब वह छलिया जाने कहाँ छिप जाता है और ऐसा छिपता है कि बेनिशाँ हो जाता है। लापता हो जाता है। मिलना, मिल-मिलकर बिछुड़ना और फिर बिछुड़-बिछुड़कर, एक क्षणकी झलक दिखाकर फिर छिप जाना, यह लुका-छिपी उसकी सर्वथा निराली होती है। क्षणभरमें प्रकट होगा, क्षणभरमें छिप जायगा। हृदय खोलकर मिलेगा और क्षण ही भरमें खिसक जायगा। न उसे पकड़ते बनता है, न छोड़ते। जन्म-जन्मसे हम उस रूपको निहारते आये हैं; फिर भी आँखें तृप्त नहीं हुईं, फिर भी जी नहीं भरा, हृदय नहीं अघाया।

× × ×

जिस प्रकार वर्षा ऋतुके आनेपर जल बरसता है, बिजली चमकती है, मेघ गर्जना करते हैं; हवा जोरसे चलने लगती है, फूल खिल जाते हैं और पक्षी आनन्दमें डूबकर कूजने लगते हैं, उसी प्रकार प्रियतम प्रभुके दर्शन हो जानेपर आनन्दित होकर नेत्र जल-वर्षा करने लगते हैं, होठ मृदुहास्य करने लगते हैं, हृदयकी कली खिल उठती है, आनन्दके झोंकेसे मस्तक हिलने लगता है, प्रतिक्षण उस प्रिय सखाके नामकी गर्जना होने लगती है और प्रेमकी मस्ती प्रभुके गुण-गानमें सराबोर कर देती है। मिलन और विरह—दोनों ही साधन हरि-मिलनके ही हैं। इस आनन्दका पता न कर्मीको है न निष्कर्मीको, न ज्ञानीको है न ध्यानीको। वेद भी इसका पार नहीं पा सकते, विधिकी यहाँतक पहुँच नहीं। यह तो केवल रसिक हृदयोंके निकट ही चिर-समुज्ज्वल है। यही है साधनाका शेष, यही है प्रेमकी चरम लीला। यही है योगियोंकी परम योग-सिद्धि, यही है भक्तोंको भक्तिकी प्राप्ति और यही है प्रेमी-जनोंका पूर्ण-प्रणय-महोत्सव !

× × ×

प्रेमके अनियारे बाणसे जिसका हृदय विंध जाता है, उसकी दशा उन्मत्तकी-सी हो जाती है। जगत्की कोई चर्चा उसे नहीं सुहाती। चेष्टा करनेपर भी वह कुछ बोल नहीं सकता। उसका शरीर पुलकित हो उठता है। उसके रोम-रोमसे प्रेमकी किरण-धाराएँ निकलकर निर्मल प्रेमज्योति फैला देती हैं। समस्त वातावरण प्रेममय हो जाता है। वह प्रेमावेशमें बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने और नाचने लगता है।

× × ×

जिस-किसी भी निमित्तसे भगवान्में विश्वास उत्पन्न हो और बढ़े, वह निमित्त देखनेमें यदि असुन्दर भी हो, तो भी वस्तुतः बड़ा ही सुन्दर, श्रेष्ठ, वरणीय तथा वन्दनीय है।

× × ×

शरीरसे किसीका कुछ भी बुरा न करके सदा भगवद्भावसे सबकी सेवा किया करो, वचनसे किसीको कभी कठोर वाणी न कहकर सत्य, हितकर, मधुर और परिमित वाणीसे तथा भगवन्नाम-गुणादिके दिव्य कीर्तन-गायनसे सबको सुख पहुँचाया करो और मनसे द्रोह, दम्भ, काम, क्रोध, लोभ, विषाद और जगच्चिन्तनरूपी विषसमूहको निकालकर प्रेम, सरलता, सचाई, प्रसन्नता, संतोष और नित्य भगवच्चिन्तनादिकी अमृतधाराके द्वारा सबका मङ्गल किया करो और यह सब भी किया करो केवल भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही। यही यथार्थ त्रिदण्ड है। जो इनको धारण करता है, वही त्रिदण्डी है। तुम इन तीनों दण्डोंको धारण कर सदाके लिये त्रिदण्डी बन जाओ।

× × ×

यहाँके संयोग-वियोग सब उन लीलामयके लीलासंकेतसे होते हैं और होते हैं हमारे मङ्गलके लिये। इस बातका जिसको पता है, वह न तो दुःखके संयोगसे दुखी होता है न सुखके वियोगसे। उसे तो सभी समय, सभी संयोग-वियोगोंमें, सभी दुःख-सुखोंमें सदा अखण्ड सुख, अखण्ड शान्ति और अखण्ड तृप्तिका अनुभव होता है।

× × ×

हमलोग देवत्वसे मनुष्यत्वको प्राप्त हुए हैं। हमारे पूर्व-पुरुष देवलोकसे भूतलपर अवतरित हुए और वहीं गये। हम भारतवर्षीयोंका मूलस्थान स्वर्ग ही है। वहींसे हम भी अपने पूर्वजोंकी तरह आये हैं और वहीं जाना है। इसी हेतु वैदिक-कर्मोंका यथाविधि अनुष्ठान किया जाता है। उन कर्मोंमें दिव्य शक्तियाँ व्याप्त होती हैं। अनुष्ठानसे वे विकसित होकर कर्तामें अपूर्वरूपसे प्रविष्ट हो जाती हैं और अन्त समय उनके बलसे वह ऊर्ध्वलोकको खिंच जाता है। यही सामान्यतः भारतवर्षीय आर्यजातिका अपूर्व वैशिष्ट्य है। इसके परे सर्वोत्कृष्ट धर्म जीवमात्रका परम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, जिसमें सम्पूर्ण दुःखोंका आत्यन्तिक अभाव है, आवागमनका राहित्य है, भव-बन्धनकी निवृत्ति है। इसे 'भागवतधर्म' कहते हैं। इसका एकमात्र लक्ष्य भगवान् ही हैं। वैदिक-कर्म इस विशेष धर्मके साधक हैं। जैसे सामान्य धर्म-कर्म-

यज्ञका उद्देश्य देवत्व है, वैसे ही इस विशेष धर्मका लक्ष्य भगवत्त्व है।

× × ×

भगवत्पदको प्राप्त होना ही जीवमात्रका उद्देश्य है। जैसे स्वर्ग देवत्वका क्षेत्र है, वैसे ही भगवद्धाम अपराजित भगवत्त्वका देश है। स्वर्गमें पतनका भय है, सम्पूर्ण अमरत्व नहीं है; परंतु परम दिव्य त्रिगुणातीत देशकालाद्यनवच्छिन्न भगवद्धाम सर्वथा अभयपद है। वह निश्चल, निर्विकार और नित्य है। वहीं पूर्ण अमरत्व है; परंतु वह पद अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि वह वाङ्मनोगोचरातीत है। परमात्माका शब्दब्रह्म रूप ही विश्वमें प्रकट है। वही सम्पूर्ण सृष्टिको अपनी आनन्दमयी सर्वव्यापिनी अन्तर्गतिसे जीवन प्रदान कर रहा है। वह राम-नाम है। प्रणव भी उसीका भेद है। परंतु वह नियताधिकार है और राम-नाम सर्वाधिकार है। प्राणिमात्रको उसके जपका अधिकार है। जैसे प्रणव कर्मका साधक होता हुआ ब्रह्मज्ञानका उत्पादक है, वैसे ही राम-नाम पुरुषोत्तमकी भक्तिका परितोषक होता हुआ परमात्मज्ञानका परिपोषक है। अतएव उसका जप सबको करना चाहिये। कलियुगमें यही संसृति-संतरणका सर्वोपरि सुगम साधन और विधि-निषेधरहित अमोघ दिव्य मन्त्र है, कल्याण-कल्पतरुका बीज एवं फल दोनों है।

(संग्रहकर्ता और प्रेषक—श्रीशालिगराम)

मानसिक विकास एवं सत्संगपर एक दृष्टि

(लेखक—श्रीजयकान्तजी झा)

हमारी उपासना एवं कार्य-क्षमता तभी सच्चा रूप धारण करेगी, जब उसमें हमारे मनका संयोग होगा। यदि हम हाथ जोड़कर, विशेष रूपसे आसनपर ध्यानावस्थित होकर, आँखें मूँदकर भगवान्‌के सामने बैठकर प्रार्थना करनेकी मुद्रा बनावें, किंतु हमारा मन कहीं और हो तो वह प्रार्थना सच्ची न होकर एक दिखावा मात्र ही होगी। इसके विपरीत यदि किसी अपवित्र स्थानमें बैठे होनेपर भी हम हृदयसे प्रभुका स्मरण करें अथवा उनसे श्रद्धायुक्त किसी प्रकारकी विनती करें तो वह सच्चा ध्यान अथवा सच्ची प्रार्थना होगी। इसलिये बाहरी आचार-व्यवहारकी उतनी प्रधानता नहीं है, जितनी मनकी एकाग्रताकी है। हमारा मन कब किस रूपमें कहाँ जा रहा है—इस विषयमें हमें सजग रहनेकी आवश्यकता है। हमारा मन रथमें जुते हुए घोड़ेके समान है, जो अनियन्त्रित होनेपर सवारको गड्ढे, तालाब, नदी, खाई अथवा और किसी भयानक स्थानमें गिराकर उसका पतन कर सकता है। इसलिये हमें अपने मनपर सर्वदा नियन्त्रण रखते हुए उसे अपने लक्ष्यकी ओर लगानेका प्रयत्न करना चाहिये।

जहाँ हमारा मन है, वहीं हम हैं। यदि हमारा शरीर मन्दिरमें है और हमारा मन वेश्यालयमें है तो हम उस समय सचमुच मन्दिरमें नहीं, अपितु उस अपवित्र स्थानमें हैं, जहाँ हमारा मन चक्कर काट रहा है, यह नितान्त सत्य है। जबतक हमारा मन विषयाकार होता रहता है, तबतक उसे सँभालनेकी बड़ी आवश्यकता है। मनकी सँभाल करते-करते जब वह स्थिति आ जाय कि मनमें निरन्तर परम पिता परमात्माका ही एकमात्र चिन्तन होने लगे, उस समय मनकी सँभालका प्रश्न समाप्त हो जाता है और मनुष्य उस अवस्थामें पहुँच जाता है जिसे 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं; किंतु अनन्त जन्मोंके पुण्योंके फलस्वरूप ही यह स्थिति प्राप्त होती है।

हम सबमें भोगोंकी कामना होती है। यह कामना हमारे मनद्वारा विभिन्न रूपोंमें व्यक्त होती है। हम संकल्प-विकल्प करके अपने मनके नाना प्रकारके आकार बनाते हैं और सांसारिक वैभव एवं विषयोंके चिन्तनमें लगे रहते हैं। हमारा मन सदा विषयोंकी ओर दौड़ा करता है और उनकी प्राप्तिके लिये व्यग्र रहता है। विषयोंका यह नियम है कि मनुष्य जितना ही उनकी ओर दौड़ता है, उतना ही वे दूर होते चले जाते हैं; क्योंकि सांसारिक विषय-भोग अपूर्ण हैं और जो वस्तुएँ स्वयं अपूर्ण हैं वे किसी व्यक्तिको कैसे पूर्णता (सच्ची शान्ति) प्रदान कर सकती हैं ? इसके विपरीत केवल भगवान् ही पूर्ण हैं और उन्हींकी प्राप्तिसे पूर्ण शान्ति एवं अखण्ड आनन्द प्राप्त हो सकता है। यही बात यदि हमारा मन सच्चे अर्थोंमें ग्रहण कर ले तो हमारा दुःख-दैन्य सदाके लिये दूर हो जाय।

हम भोग्य-पदार्थोंको क्यों चाहते हैं ? केवल इसीलिये तो कि हमें उनमें सुखका आभास होता है । यदि हम सुख ही चाहते हैं तो क्यों न समस्त सुखोंके केन्द्र भगवान्की कामना करें, जिनसे समस्त सुख उत्पन्न हुए हैं और जिनकी कृपापर समस्त विश्व अवलम्बित है । हमें मनको यही समझाना है, यही समझ लेनेपर हम अपने लक्ष्यतक पहुँच सकेंगे । भगवान्की प्राप्तिके लिये किसी विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है । उन्हें तो केवल तीव्र इच्छा मात्रसे ही प्राप्त किया जा सकता है । ऐसी तीव्र इच्छा विशेषकर संकटकी घड़ियोंमें ही उत्पन्न हुआ करती है । जब सांसारिक विषय-वासनाओंकी ज्वालासे संतप्त होकर मन विक्षुब्ध हो उठता है, उस समय एकमात्र प्रभुको छोड़कर किसीकी ओर ध्यान नहीं जाता और ऐसे समय मन स्वभावतः प्रभुकी ओर लगकर उनसे करुण पुकार करता है । क्षणमात्रमें प्रभु भक्तके सामने उपस्थित होकर उसकी मनःकामना पूरी करते हैं । इसीलिये माता कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णसे यही वरदान माँगा था कि 'हे प्रभो ! मैं जहाँ-कहीं जिस अवस्थामें रहूँ; विपत्ति हमारा साथ न छोड़े; क्योंकि विपत्तिमें ही आपका दर्शन होता है ।' सती साध्वी द्रौपदीके लिये श्रीकृष्ण भगवान्का वस्त्रावतार धारण करना, गजकी करुण पुकारपर भगवान्का प्रकट होकर ग्राहसे गजका उद्धार करना आदि सच्ची प्रार्थनाके ही उदाहरण हैं । इसीलिये हमें सतत अपने मनको विषयाकार न बनाकर भगवदाकार बनानेका प्रयत्न करना चाहिये ।

यदि हमारी भूल किसी समय प्रकट हो जाती है तो हमें लज्जा एवं संकोचका अनुभव होता है । यह संकोच केवल इसीलिये होता है कि लोग हमारी गलती जान गये । ऐसा संकोच अथवा ऐसी लज्जा बेकार है । लज्जा होनी चाहिये भूल करनेमें, किये हुए पापोंपर परदा डालनेमें । यदि हमसे कोई भूल हो जाय तो उसे शीघ्र प्रकट करनेमें ही हमारी महानता है । यदि पाप करनेमें हमें लज्जा आने लगे अथवा पापोंको छिपानेमें हमें संकोच हो तो इस लज्जा अथवा संकोचसे हम शीघ्र ही भगवान्की ओर मुड़ते हैं । हमें सतत अपनी सात्त्विकी बुद्धिका आश्रय लेकर प्रभु-चरणोंमें नत-मस्तक हो अपने मनकी सँभाल करनी चाहिये । हमें प्रभुके परम पावन धाममें जाना है और जिस रथपर सवार होकर वहाँ पहुँचना है, उस रथकी लगाम यह हमारा मन है । इसलिये इस मनकी देखभाल उचित रूपसे करनी चाहिये ।

भगवान्में पूर्ण विश्वास न होनेके कारण ही हमें नाना प्रकारके भय सताया करते हैं । जब घट-घटव्यापी सर्वशक्तिमान् प्रभु हमारे सुहृद् हैं तो भय किसका ! 'सुहृदं सर्वभूतानाम्' भगवान्के इस वचनको ध्यानमें रखते हुए हमें सतत निर्भय होकर सन्मार्गका अवलम्ब लेते हुए जीवनका प्रत्येक कार्य सुचारु रूपसे करते रहना चाहिये । यही सफलताकी कुंजी है ।

यदि हम प्रभुको छोड़कर और किसी वस्तुकी कामना न करें, अपनी कामनाकी दिशा सांसारिक विषयोंकी ओरसे मोड़कर प्रभुकी ओर कर दें तो हमें समस्त सुखोंकी खान प्रभु मिल जायँ और हमारा मन भी धुलकर विषयाकारसे भगवदाकार बन जाय । इसके लिये हमें यह ध्यान रखना होगा कि जितनी बार हमें किसी वस्तुके लिये कामना उत्पन्न हो, उतनी बार हम उस कामनाको भगवान्की कामनाके आकारमें ढाल लें और ऐसा विचार करें कि एकमात्र प्रभुके सिवा हमें कुछ भी नहीं चाहिये । अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये इससे बढ़कर और कोई दूसरा साधन नहीं है ।

यदि भगवान्में हमारा विश्वास नहीं तो जगत् हमारे लिये नरकके सिवा और कुछ नहीं । स्थूल जगत्के भोग हमें अंधा बना देते हैं और इसकी चकाचौंध हमें प्रतिक्षण व्यग्र करती रहती है । वर्तमान जगत्के प्रायः सभी क्षेत्रोंमें अविश्वास एवं अश्रद्धाका ताण्डव नृत्य दिखायी पड़ता है और इसी जगत्को सत्य समझकर लोग विषय-लोलुप होकर पतनकी ओर जा रहे हैं । किंतु ऐसे समयमें भी विषयोंकी कामनासे उत्पन्न भयंकर आघात जिस समय मनुष्योंके हृदयको विदीर्ण करते हैं और जब उसे कोई सहारा नहीं दीख पड़ता, उस समय लोग ऐसी अचिन्त्य शक्तिकी खोज करते हैं जो उन्हें शान्ति प्रदान कर सके । ऐसे समयमें वज्र पापियों एवं नारकीयोंके मुखसे भी सहसा निकल पड़ता है—'हे प्रभो ! अब आप ही मुझे बचा सकते हैं ।'

सांसारिक वस्तुओं एवं भोग्य पदार्थोंको प्राप्त करनेके लिये हमें सदैव व्याकुलता बनी रहती है; परंतु परम सुहृद् प्रभुको पानेके लिये हम कभी भी व्याकुल नहीं होते । सांसारिक पदार्थोंके लिये हमें जितनी व्याकुलता रहती है उतनी यदि प्रभुके लिये हो तो हमारा काम बन जाय । हम यदि अपने प्रभुके लिये रोयें तो हमारे आँसू सारी

मलिनताको धोकर हृदयको स्वच्छ बना दें और ऐसे स्वच्छ हृदयमें हमें प्रभुकी झाँकी शीघ्र दिखायी पड़ने लगे। मानसिक विकासके लिये हमें सत्संगकी परम आवश्यकता है।

एक घड़ी आधी घड़ी आधिहु में पुनि आध।
तुलसी संगति साधु की हरै कोटि अपराध॥

क्षणमात्रका सत्संग भी ऐसा प्रभाव दिखलाता है कि मनुष्यका जीवन आलोकमय हो उठता है और पापीसे पापी व्यक्ति भी प्रभुकी दिशामें मुड़कर उधर अग्रसर होने लगते हैं। अजामिल, गणिका आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। सत्संग मुक्तिका मार्ग है। इसके फलस्वरूप समस्त संसारी भोग तुच्छ हो जाते हैं। ब्रह्मपद भी बुरा मालूम होने लगता है। असत् वस्तुओंकी चाह शाश्वत आनन्दरूप सत्का अनुभव नहीं होने देती। सत्संगद्वारा अपने-आपका निरीक्षण होता है; असत्यके प्रति विराग और सत्यके प्रति अनुराग होता है एवं दोषोंका दुःखसहित ज्ञान होता है। वास्तविक सत्संगी तो सबके साथ सद्व्यवहार रखते हुए अति सुखद या दुःखद सभी परिस्थितिमें सत्संगद्वारा प्राप्त विवेकका सदुपयोग करते हुए सदा गम्भीर और शान्त रहते हैं तथा अपने लक्ष्यको कभी न भूलते हुए त्यागद्वारा निर्दोषिता, तपद्वारा शान्तिशीलता और अपनत्वके द्वारा प्रीतिको पूर्ण बनाते रहते हैं। पूज्य गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

संसारके भोग-पदार्थोंमें सुख और नित्यताका बोध बहुत भारी मोह है। इस मोहका नाश हुए बिना भगवान्‌के चरणोंमें दृढ़ अनुराग नहीं होता। मोहका नाश होनेके लिये भगवान्‌के गुण-प्रभाव-महत्त्वका रहस्य बतानेवाली हरिकथा होनी चाहिये और विशुद्ध हरिकथा सत्संगके बिना प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार सत्संग ही मानसिक विकासका सर्वोत्तम साधन है। श्रीमद्भागवतमें श्लोक है—

तुल्याम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१।१८।१३)

अर्थात् भगवत्संगीके लवमात्र संगके साथ भी स्वर्ग क्या मोक्षकी भी तुलना नहीं हो सकती, फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है?

शास्त्र तथा सच्छास्त्रोंद्वारा सत्की महिमा सुनकर असत् वस्तुओंसे सम्बन्ध तोड़कर सत्को परमाधार जान लेना ही सत्संग है। असत्को अपना माननेसे ही मोह, लोभ, अभिमान आदिकी वृद्धि होती है। सत्को अभिन्न मान लेनेपर असत्के प्रति मोह, लोभ और अभिमानकी निवृत्ति होती है। इसी लक्ष्यपर दृष्टि रखते हुए मानसिक विकासके लिये हमें सदा-सर्वदा सत्संग करते रहना चाहिये। सत्संगमें सत्यका वर्णन सुननेपर शरीर कर्तव्य-कर्मोंमें पूर्ण परिश्रमी हो जाता है, आलस्य नहीं रहता है, इन्द्रियाँ संयमी हो जाती हैं, विषयलोलुपता समाप्त हो जाती है और प्रमादका सर्वथा अभाव होकर मन पवित्र भावोंसे भरकर निर्दोष हो जाता है। सत्संगसे हमें अपनी वास्तविक आवश्यकताका ज्ञान होता है। हमें अनुभव होता है कि हम मृत्युसे अमरत्व अर्थात् नित्य जीवन, जिज्ञासासे तत्त्वज्ञान, दुःखसे आनन्द, जडतासे चेतना और परतन्त्रतासे स्वतन्त्रता-की ओर अग्रसर होना चाहते हैं।

सत् परमात्माको कहते हैं। अतः सर्वोत्तम सत्संग तो परमात्माका ही संग है जो केवल संत-महात्माओंको प्राप्त रहता है। द्वितीय श्रेणीका सत्संग उन भगवत्प्राप्त संत-महात्माओंका संग है। इनके हृदयमें दिव्य गुणोंकी अपार शक्ति भरी रहती है। इनके भाषणसे उनके हृदयगत सद्-भावोंका विकास होता है। इससे उसे सुननेवालोंपर तो यथा-धिकार प्रभाव पड़ता ही है, साथ ही वह वाणी, शब्द नित्य होनेके कारण सारे आकाशमें व्याप्त होकर स्थित हो जाती है और जगत्‌के प्राणियोंका सदा सहज ही मङ्गल किया करती है।

इस प्रकार सत्संगके द्वारा हमें सदैव अपना मानसिक विकास करते रहना ही अभीष्ट है।

परमार्थकी पगडंडियाँ

घरमें अपार धन गड़ा है, परंतु जबतक हमें उसका पता नहीं है, तबतक हम दरिद्र ही हैं। पता लगनेके साथ ही हम धनी हो जाते हैं, चाहे उस धनको गड़ा ही रहने दें; क्योंकि अब तो वह हमारा ही है।

× × × × × ×

(१) जबतक हमारे अंदर राग-द्वेषादि, आसक्ति, कामनादि दोष है,

(२) जबतक अनायास ही प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन नहीं होता,

(३) जबतक चित्तमें जरा भी क्षोभ और विषाद है और

(४) जबतक भगवान् ही हमारे एकमात्र आकर्षण, ममत्व और निजत्वकी वस्तु नहीं बन जाते, तबतक समझना चाहिये कि हमने अपने ऊपर नित्य-निरन्तर बरसनेवाली भगवत्कृपाको पहचाना नहीं। भगवत्कृपाको पहचाननेका साधन भी भगवत्कृपा ही है।

× × × × × ×

किसी भी मनुष्यकी कृपा-अकृपासे क्या होता है? कृपा करके वह क्या कर सकता है, जो स्वयं ही दूसरेकी कृपाका भिखारी है और उसकी अकृपा भी किसीका क्या बिगाड़ सकती है, यदि भगवान् सहायक होते हैं। हाँ, भगवान्‌की कृपासे सब कुछ हो सकता है—सम्भव भी असम्भव और असम्भव भी सम्भव हो जाता है।

× × × × × ×

संयोग-वियोगमें सुख-दुःख नहीं करना चाहिये। भगवान्‌का वियोग तो कभी होता नहीं और शरीर तथा संसारके सब पदार्थ निश्चित वियोगशील हैं। इनसे सदा संयोग रह ही नहीं सकता। पेड़पर संध्याको बहुत-से पक्षी आकर बैठते हैं, सवेरा होते ही अपने-अपने स्थानपर उड़ जाते हैं। या एक धर्मशालामें बहुत मुसाफिर ठहरते हैं, फिर सब अपने-अपने गन्तव्य स्थानपर चले जाते हैं। यही दशा इस संसारकी और घरकी है। यही समझकर सदा प्रसन्न रहना चाहिये। कभी खिन्न नहीं होना चाहिये।

× × × × × ×

हम इस संसारके जिन लोगोंको अपना साथी समझते हैं, उनमें प्रायः अधिकांश हमारी सफलतापर ही हमारा साथ देते हैं। असफलताकी स्थितिमें बिरले ही सहानुभूतिके साथ हमारी सहायता कर पाते हैं। सच्ची बात यह है कि श्रीभगवान्‌के अतिरिक्त मनुष्योंमें ऐसी सामर्थ्य ही कहाँ है, जो किसीका दुःख बँटा सके। हम दुनियाके लोगोंसे आशा-प्रत्याशा करते हैं, यही हमारी भूल है।

× × × × × ×

यद्यपि आजका युगधर्म पैसा हो रहा है। आडम्बरहीन तथा साधनातत्पर शुद्ध परमार्थक्षेत्रको छोड़कर शेष हर एक क्षेत्रमें आज पैसेका सम्मान है। इसको देख-सुनकर मनुष्यमात्रके मनमें पैसेवाला बननेकी स्पृहा साधारणतः जाग्रत् होना कोई अचरजकी बात नहीं है। परंतु विवेकशील पुरुषका भी

पैसेको मूल्यवान् समझना तथा उसे महत्त्व देना खेदकी बात है। विवेकसे यह कभी समझमें आ ही नहीं सकता कि पैसेसे मनुष्यके दुःख आत्यन्तिक रूपसे दूर हो सकते हैं। इसके विरुद्ध आजतकका इतिहास, संतोंकी वाणी और अपने अनुभवसे भी यही सिद्ध होता है—पैसा परमार्थमें प्रायः बाधक ही होता है।

× × × × × ×

धनमें एक तरहकी मादकता होती है, जो मनुष्यको साधनसे गिरा देती है। उसके सामने ऐसे-ऐसे प्रपञ्च आ जाते हैं, ऐसा वातावरण बन जाता है, जिससे बरबस उसे परमार्थसे हटना पड़ता है और उसे अपनी भूल उस अवस्थामें प्रायः मालूम ही नहीं पड़ती।

× × × × × ×

सम्भव है, कोई लाखों-करोड़ों रुपये कमा ले, परंतु इससे उसकी असली स्थितिमें क्या उन्नति होगी? समता, ईश्वरपरायणता, वैराग्य, सत्यपर दृढ़ता, निरभिमानिता, क्षमा, यथार्थ नम्रता आदि गुण ही मनुष्यको ऊँचा बनानेवाले हैं और ये ही उच्चताके लक्षण हैं। मनुष्य सब प्रकारकी सांसारिक स्थितिसे दीन-हीन हो, रोटीके टुकड़ेका भी अभाव हो, अपमानित हो, कोई पूछनेवाला न हो, साथी-संगी-सहायक, अपना या आश्रयदाता कोई न हो, शरीर भी रोगी रहता हो—यह सब कुछ होनेपर भी यदि वह कामना, क्रोध, लोभ, वैर, मद, ईश्वरविमुखता, आसक्ति, असत्य आदि दोषोंसे रहित और उपर्युक्त गुणोंसे युक्त है तो वह वास्तवमें परम श्रेष्ठ—उन्नत स्थितिमें है। इसके विपरीत मान, धन, पद, प्रतिष्ठा, नीरोगता आदि खूब हों, परंतु उपर्युक्त सद्गुणोंका अभाव हो तो वह किसी कामका नहीं।

× × × × × ×

झंझटोंसे मनुष्य मुक्ति चाहता कहाँ है? वह तो नये-नये झंझट मोल लेना चाहता है और चाहता है कि सब लोग हमारे अनुकूल हो जायँ। आजके राग-द्वेषभरे युगमें तो यह सर्वथा ही व्यर्थ आशा है। यदि इन सब अड़ंगोंसे दूर रहना हो तो साहस करके धन-मानकी कमीका सामना करनेके लिये तैयार होकर सब छोड़ देना चाहिये। जबतक चीलकी चोंचमें मांसका टुकड़ा है, तभीतक चील-कौवे उसके पीछे-पीछे उड़कर हैरान करते हैं। टुकड़ा फेंका कि फिर वह पेड़की डालपर आरामसे बैठ सकती है। कोई उसे सतायेगा नहीं। सब उस टुकड़ेपर टूट पड़ेंगे। लोग टुकड़ेके पीछे दौड़ते हैं, आदमीके पीछे नहीं।

× × × × × ×

भगवान्‌के भजन करनेकी बात भाग्यवानोंसे बनती है। इसका अर्थ यह नहीं मानना चाहिये कि जिनके पहलेके भाग्य हों, वे ही भजन कर सकते हैं। भजनमें प्रारब्ध हेतु नहीं है। यह अवश्य है कि जो भजन करते हैं वे ही भाग्यवान् हैं। रुपये-पैसे, धन-दौलत और पद-अधिकारवाले भाग्यवान् नहीं! और भगवद्भजनरूप इस भाग्यकी प्राप्तिका अधिकार सभीको है। भजन जो चाहे वही कर सकता है, लगन होनी चाहिये और मानव-जीवनका यही सबसे बड़ा और अत्यावश्यक कार्य है।

× × × × × ×

मनुष्यका जीवन मिला है केवल भगवान्‌के भजन करनेके लिये ही। इसको हमलोग जो संसारके भोगोंमें बिता रहे हैं और रात-दिन केवल विषयोंका ही चिन्तन करते हैं, यह बहुत बड़ी भूल है। संसारके

सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान तथा जीवन-मृत्यु तो सदा आते-जाते ही रहते हैं। इनमें दोनोंमें एक-सा भाव होना चाहिये। संसारके सुख, लाभ, मान और जीवनमें तथा दुःख, हानि, अपमान और मृत्युमें केवल श्रीभगवान्‌की ही लीला हो रही है। कभी वे दुःखके स्वाँगमें आते हैं, कभी सुखके स्वाँगमें। दोनोंमें उन्हींको देखकर सदा प्रसन्न रहना चाहिये। अथवा यह समझना चाहिये कि यहाँ कुछ भी स्थायी नहीं है। सभी कुछ अनित्य और मरणशील है। यहाँके सब सम्बन्ध केवल आरोपित हैं। एक श्रीभगवान् ही अपने हैं। उन्हींमें अपना मन लगाना उचित है।

× × × × × ×

अभी उस दिन प्लेन-दुर्घटनामें अच्छे-अच्छे आदमी क्षणोंमें मर गये। न मालूम उनके क्या-क्या मनसूबे थे। यही हाल हम सब लोगोंका होनेवाला है।

× × × × × ×

शरीरके ढाँचेका कुछ पता नहीं, कब क्या हो जाय—कहाँ गिरकर टूट जाय ! प्रतिक्षण ही मृत्युके लिये मनुष्यको सर्वतोभावसे तैयार रहना चाहिये। मृत्यु वास्तवमें जीव-जीवनका अन्त नहीं है, इससे इसमें भयकी कोई बात नहीं है। और यदि ज्ञानकी प्रबल अग्निसे जीव-जीवनका सर्वथा अन्त होकर वह भूमाकी सत्तामें मिल जाय तो और भी अधिक आनन्दकी बात है। अतएव सब तरहसे सदा-सर्वदा सावधान रहना चाहिये। जीवनभरका सारा साधन मृत्युकालीन शुभवासनाके लिये ही है; क्योंकि मनुष्यका भविष्य प्रधानतः इसीपर अवलम्बित है। मृत्युकालीन ब्राह्मी-स्थिति ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करानेवाली होती है। इससे मृत्युको सदा ही सामने समझकर सदा-सर्वदा ब्राह्मी-स्थितिमें—भगवान्‌की ही स्मृतिमें स्थित रहनेका प्रयत्न करना चाहिये। क्षणभङ्गुर शरीर एक दिन अवश्य जायगा; दो दिन आगे या पीछे। परंतु क्षणभङ्गुर होनेपर भी मुक्तिका सारा दारमदार इसीपर है।

× × × × × ×

कामना न दूर होती हो तो, मेरी तुच्छ समझमें सकाम भावकी पूर्ति भी भगवान्‌से करानी उत्तम है। माना कि इसमें भक्तिकी कमी है, भगवान्‌के तत्त्व और महत्त्वका पूरा ज्ञान नहीं है, परंतु भगवान्‌को छोड़कर दूसरे उपायोंकी शरण लेना तो व्यभिचार है।

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जिय जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥

यह पद केवल गानेका नहीं है। यह तो सिद्धान्त है—माननेका और क्रियारूपमें लानेका।

× × × × × ×

जो सकाम हैं, वे भी यदि भगवान्‌पर निर्भर करें तो उनका भी परिणाममें परम कल्याण हो सकता है। जो सफलता मानवशक्तिके लाख प्रयत्नोंसे भी असम्भव है, वही भगवान्‌के एक संकल्पमात्रसे हुई तैयार रहती है। द्रौपदीका चीर बढ़नेकी बात क्या उपन्यासकी कहानी है ? हम पढ़ते-सुनते हैं, कहते हैं, परंतु फिर भी काम पड़नेपर विश्वास नहीं कर सकते, यही तो हमारी एक प्रकारकी नास्तिकता है !



देशप्रेमी महानुभावोंसे विनीत प्रार्थना

गत २० अप्रैलको स्वर्गीय डाक्टर अम्बेडकरका ७८ वाँ जन्मदिवस-समारोह 'अम्बेडकर सामाजिक और सांस्कृतिक समिति'के द्वारा नगरा, झाँसीमें मनाया गया था। समारोहमें मुख्य अतिथि और वक्ता थे—श्रीशंकरानन्दजी शास्त्री (डिप्टी डाइरेक्टर श्रम तथा नियोजन, नयी दिल्ली)। उन्होंने समारोहमें उत्तेजनात्मक एवं आपत्तिजनक भाषण दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने भगवान् राम और सीताके प्रति भी अभद्र शब्दोंका प्रयोग किया। वे बोले—

'लोग कहते हैं कि राम अछूतों, पतितोंसे प्रेम करते थे, इसीलिये उन्होंने शबरीके जूठे बेर खाये। वास्तवमें ऐसा नहीं। उसकी औरत भाग गयी थी। शायद शबरी बड़ी गोरी खूबसूरत रही होगी। इसलिये राम उस औरतको चाहने लगा होगा। अपनी प्यारीके जूठे बेर कौन नहीं खायगा?' *

ये हैं धर्मनिरपेक्ष भारत-सरकारके एक उच्च अधिकारीके शब्द, जो उन्होंने खुली सभामें सार्वजनिक रूपसे उन भगवान् रामके प्रति कहे हैं, जिनको युगों-युगोंसे करोड़ों-करोड़ों हिंदू साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मानते आये हैं तथा जो अवतारवाद नहीं मानते, वे महानुभाव भी जिन श्रीरामके चरित्रको परम पुनीत और आदर्श मानते हैं। किसी दायित्व-ज्ञानसम्पन्न व्यक्तिने आजतक श्रीरामके चरित्रके सम्बन्धमें एक शब्द भी नहीं कहा। उन्हीं भगवान् श्रीरामके प्रति इस प्रकारका खुला लाञ्छन लगानेवाले तो जरा भी दोषी नहीं! इस विषयमें संसद्की बात तो अलग, बाहर भी कोई भी कुछ भी नहीं कहता और पुरीके जगद्गुरु शंकराचार्यने परम्परागत शास्त्रकी बातके आधारपर घृणामूलक नहीं, विज्ञानमूलक अस्पृश्यताकी बात कह दी, जिसको करोड़ों-करोड़ों हिंदू पढ़ते-सुनते और मानते आये हैं, तो वह घोर जघन्य अपराध हो गया!

सबमें एक परमात्माकी अभिव्यक्ति माननेवाले स्वयं परमात्मा श्रीकृष्णने भी गीतामें—'विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी और कुत्तेमें समदर्शी होकर समानभावसे ब्रह्म देखनेवालेको पण्डित (ज्ञानी) कहा है।' पर समवर्तनकी बात नहीं कही; क्योंकि समवर्तन इन पाँचोंमें सम्भव ही नहीं।†

वस्तुतः हमारे शास्त्रोंमें किसीसे भी घृणा करनेकी बात नहीं कही है, बल्कि यही एक ऐसा सनातन आर्यधर्म है, जिसे आत्मधर्म या विश्वधर्म कह सकते हैं, जो जड-चेतन सबमें एक आत्मा या एक ही भगवान्‌को देखनेका सिद्धान्त प्रतिपादन करता है और स्पष्ट आदेश देता है—

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥
विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २९। १४—१६)

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—'जो ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और सदाचारी ब्रह्मण्य, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूरमें समदृष्टि रखता है, उसे पण्डित (ज्ञानी) मानना चाहिये। जब निरन्तर सभीमें मेरी (भगवान्‌की) ही भावना की जाती है, तब शीघ्र ही मनुष्यके चित्तसे स्पर्धा, दोषदर्शन, तिरस्कार और अहङ्कार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपने ही लोग चाहे हँसी करें तो उन्हें करने दें, उनकी ओर न देखकर मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है, ऐसी देहदृष्टिको और लोक-लज्जाको छोड़ दें और कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर साष्टाङ्ग प्रणाम करें।'

योगीश्वर कविके वचन हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २। ४१)

'यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदी, समुद्र सभी भगवान्‌के शरीर

---

* देखिये, नयी दिल्लीसे प्रकाशित 'पाञ्चजन्य' साप्ताहिक १३ नवंबर अङ्क।

† विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (५।१८)

हैं—सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् ही प्रकट हैं—ऐसा समझकर वह चराचर भूतमात्रको अनन्य भावसे—भगवद्भावसे प्रणाम करता है ।'

केवल मनुष्य या चेतन प्राणीमें ही नहीं, जड वृक्ष-लता, नद-नदी आदि सबमें भगवान्को देखनेको बात कही गयी है। इतना ही नहीं; जो भगवान्का भजन करता है, भगवान्के चरणारविन्दमें अपनेको अर्पण कर चुका है, वह चाण्डाल (रहते हुए ही) अध्यात्मजगत्में सबसे श्रेष्ठ है ।

देवहूतिजी भगवान् कपिलसे कहती हैं—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥
(श्रीमद्भागवत ३ । ३३ । ७)

'अहो ! वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी जीभके अग्रभागपर आप (भगवान्) का नाम विराजमान है । जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया !'

भक्तराज प्रह्लाद कहते हैं—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । १०)

'बारह प्रकारके गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण—भगवान्के चरणोंमें समर्पण कर दिये हैं; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने सारे कुलको पवित्र (भगवत्प्राप्तिके योग्य) कर देता है और बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता ।'

इस प्रकार कण-कणमें भगवान्का दर्शन करनेवाले हिंदू-धर्ममें कहीं भी घृणाको स्थान नहीं है । तथापि उपर्युक्त सभी प्राणियोंमें प्रेमपूर्ण व्यवहारभेद तो यथायोग्य रहेगा ही । वेदान्तमें 'पारमार्थिक सत्ता'के साथ 'व्यावहारिक सत्ता' भी मानी गयी है। परमार्थमें अभेद 'त्रिकाल सत्य' होनेपर भी व्यवहारमें भेद रखना पड़ता है, नहीं तो व्यवहार चलता नहीं । सोना गहना बननेके पहले भी सोना है, गहने बननेपर—गहनेका नाम-रूप धारण करनेपर भी सोना है, फिर गहना गलाया जानेपर भी सोना है । सोना त्रिकाल सत्य एक है, पर गहना बननेपर उसके नाम-रूपके अनुसार व्यवहारभेद अनिवार्य है । हमारे सारे अङ्ग हम हैं, सिरमें चोट लगे या पैरमें—चोट हमें ही लगती है । पर आत्मभाव समान होनेपर भी अङ्गोंमें व्यवहारभेद हैं । अपने ही शरीरसे हम अशौच अवस्थामें घरकी पवित्र वस्तुओंका स्पर्श नहीं करते । शौच होकर आनेपर हाथ न धोनेतक उस हाथसे ऊपरके अङ्गका स्पर्श नहीं करते । पूज्यचरणा माता और प्रियश्रेष्ठ पत्नीका भी रजस्वला अवस्थामें स्पर्श नहीं किया जाता । वह भी अपनेको पृथक् रखती है ।

कहते हैं कि रजस्वला स्त्रीके स्पर्शसे या उसकी छाया पड़नेसे ही अचार, पापड़ आदि बनती हुई चीजें खराब हो जाती हैं । अमेरिकाके प्रो० शीक (Schick) ने अनुसंधान करके यह प्रमाणित किया है कि 'रजस्वला नारीके शरीरमें ऐसा कोई प्रबल विष होता है कि वह जिस बगीचेमें चली जाती है, उस बगीचेके फूल-पत्ते आदि सूख जाते हैं, फूलोंके वृक्ष मर जाते हैं, फल सड़ जाते हैं । कभी-कभी मर भी जाते हैं ।'*

डाक्टर टी० बी०के रोगीकी नब्ज देखकर हाथ धोते हैं । आपरेशन-कक्षमें सर्जन अपने हाथोंमें मोजे पहने रखते हैं । छूरे-कैंचीको ही नहीं, पट्टी बाँधनेके कपड़ेको भी हाथसे न छूकर चिमटीसे पकड़ते हैं । इन सबमें कहीं भी घृणाकी कल्पना नहीं है । व्यवहारभेद है और वह है विज्ञानमूलक । जैसे रोगका संक्रमण होता है, वैसे ही विचारों तथा संस्कारोंका भी संक्रमण होता है, यह तथ्य भी विज्ञानसम्मत है । इसीसे हमारे शास्त्रोंमें चोर, शराबी, व्यभिचारी आदिके भी स्पर्शका निषेध है । हरेकके बिछौनेपर सोने तथा हरेकके पहने हुए कपड़े पहननेका, किसीकी जूँठन खानेका निषेध है । इनमें कहीं भी घृणा नहीं है, आत्मरक्षा है ।

* देखिये—American gournal of Clinical Medicine May 1921, Medical Record for February 1919 (P. 317) Abstracts and Article.
(Wein Klin Wock, May 20, 1920)

हमारे शास्त्रोंमें जन्मसे वर्ण माना गया है । अवश्य ही इसपर मतभेद है और वह मतभेद भी पुराना है । उसका निर्णय शास्त्रज्ञ लोग करें । पर यह तो निश्चित है—प्रत्यक्ष है कि जन्मना-वर्ण लाखों-लाखों वर्षोंसे माना जाता है । उसमें अस्पृश्यता भी है । जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यने जो कुछ कहा है, उसमें शास्त्रकी वह बात कही गयी है, जिसको लाखों-लाखों लोग आज भी मानते हैं । यदि वह चीज ठीक नहीं है तो वैसे प्रचारके द्वारा लोगोंके भाव बदलने पड़ेंगे । यह काम कानूनसे नहीं हो सकता । कानून प्रत्यक्ष क्रियाको रोक सकता है, सो भी वहाँतक, जहाँतक कानूनकी पहुँच है; मनकी मान्यताको कानून नहीं बदल सकता । श्रीशंकराचार्यने अपने वक्तव्यमें स्पष्ट कर दिया है कि 'वे किसी भी हरिजनसे घृणा नहीं करते । वे अस्पृश्यता कानूनका उल्लंघन-भंग नहीं करते, सार्वजनिक स्थानोंमें अस्पृश्यताका पालन नहीं करते; धर्मशास्त्रोंमें अस्पृश्यताका उल्लेख है, और उन्हें व्यक्तिगतरूपसे धर्मपालन-का अधिकार है ।' इतना ही कहते हैं । वे अकेले ऐसा कहते हों सो नहीं, लाखों लोग यही कहते और मानते हैं ।

शास्त्रोंके अनेक प्रसङ्गोंमें अपने-अपने मतानुसार 'अर्थभेद' है और होता है । यह भेद सदासे चला आया है । दोनों ही मतोंवाले ईमानदार हो सकते हैं । यही बात अस्पृश्यता-की है । शास्त्रोंमें—वेद-उपनिषद् तकमें यह विषय है । वहाँ भी सब विद्वानोंका यद्यपि मतैक्य नहीं है, परंतु अस्पृश्यता-की मान्यता तथा उसके संस्कार इतने पुराने हैं और हिंदू-जन-मानसमें इतने गहरे समाये हुए हैं कि जिनका निकलना कठिन है । औरोंकी बात छोड़िये—हमारे आर्यसमाजके प्रवर्त्तक प्रसिद्ध सुधारक तथा महान् विचारक श्रद्धेय स्वामीजी श्रीदयानन्दजी सरस्वती महोदयने भी पौल्कस—चाण्डालको दूर रखनेका संकेत अपने यजुर्वेदके भाष्यमें किया है ।

(देखिये—यजुर्वेद ३० वें अध्यायके मन्त्र १७ वें तथा २१ वें का भाष्यार्थ)

उन्होंने अपने 'सत्यार्थप्रकाश' नामक प्रख्यात ग्रन्थमें उच्छिष्ट (दूसरेके जूँठे) भोजनके दोष बताते हुए आगे चलकर चाण्डालके हाथकी पकी रसोई खानेका निषेध किया है—'''जैसा रुधिर ब्राह्मणके शरीरमें है, वैसा ही चाण्डाल आदिके । पुनः मनुष्यमात्रके हाथकी पकी रसोई खानेमें क्या दोष है ?'

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए वे लिखते हैं—

'दोष है; क्योंकि जिन उत्तम पदार्थोंके खाने-पीनेसे ब्राह्मण और ब्राह्मणीके शरीरमें दुर्गन्धादि दोषरहित रज-वीर्य उत्पन्न होता है, वैसा चाण्डाल और चाण्डालीके शरीरमें नहीं; क्योंकि चाण्डालका शरीर दुर्गन्धके परमाणुओंसे भरा हुआ होता है, वैसा ब्राह्मणादि वर्णोंका नहीं, इसलिये ब्राह्मणादि उत्तम वर्णोंके हाथका खाना और चाण्डालादि नीच भङ्गी, चमार आदिका न खाना । भला, जब कोई तुमसे पूछेगा कि जैसा चमड़ेका शरीर माता, सास, बहिन, कन्या, पुत्रवधूका है वैसा ही अपनी स्त्रीका भी है, तो क्या माता आदि स्त्रियोंके साथ भी स्व-स्त्रीके समान बरतोगे ? तब तुमको संकुचित होकर चुप ही रहना पड़ेगा ।'

(देखिये—'सार्वदेशिक प्रकाशन' दिल्लीसे प्रकाशित 'सत्यार्थ-प्रकाश, दशम समुल्लास, पृ० २७६)

अब यह विचारणीय प्रश्न है कि उपर्युक्त दूषित परमाणु-युक्त रज-वीर्यसे निर्मित बालकके इस शरीरकी शुद्धि हो सकती है या नहीं ? और हो सकती है तो वह कैसे तथा कितने कालमें ?

इस अवस्थामें अकेले जगद्गुरु शंकराचार्यको लेकर इतना तूफान मचाना हमारी एक सम्मोहमयी विचाररहित आवेशकी स्थितिको तो प्रकट करता ही है, साथ ही किन्हीं-किन्हींके मनमें ऐसा संदेह भी उत्पन्न करता है कि इसके पीछे कहीं श्रीशंकराचार्यका अपमान करने, हिंदू-सनातनधर्मको गिराने और सनातनधर्मके ग्रन्थों तथा सिद्धान्तोंके प्रति जनमानसमें दुर्भावना उत्पन्न करनेका षड्यन्त्र या कोई कपटपूर्ण कूट राजनीति तो काम नहीं कर रही है । नहीं तो, जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यने कौन-सा ऐसा डाके-खूनका अपराध किया, कौन-सी संविधानकी हत्या कर दी, जिससे उनपर इतना भयानक आक्षेप किया जा रहा है ! ईसाई पादरी या मुसल्मान मौलवी कह सकते हैं कि 'परिवारनियोजन' हमारे धर्मसम्मत नहीं है, बहुविवाह धर्मसम्मत है ।' उसमें न संविधान टूटता है, न कोई कुछ बोलता ही है । (मानो ये सारे नियन्त्रणके कानून गरीब हिंदुओंके लिये ही बने हैं) पर श्रीशंकराचार्य यदि अस्पृश्यताको धर्मशास्त्रकी बात कहते हैं तो सब तरफ आगकी लपटें-सी क्यों निकलने लगती हैं !

भगवान् रामपर खुले-आम दुराचरणका दोष लगाया जाय (रवीन्द्रसरोवरमें अगणित हिंदू-सती स्त्रियोंका सतीत्व लूटा जाय और उन्हें बेमौत मरना पड़े—इसपर कुछ भी

गम्भीरतासे सोचा—कहा न जाय और न विचार किया जाय कि इस प्रकारके देशको कलङ्कित करनेवाले काम भविष्यमें न हों। चीनके माओ साहित्यके आयातपर प्रतिबन्ध है, पर मई दिवसको उसकी हजारों-हजारों प्रतियाँ बाँटी गयीं। माओवादी श्रीकनू सान्यालने खुले-आम 'माओवादी कम्यूनिस्ट पार्टी'की स्थापनाकी घोषणाके साथ ही हिंसाके द्वारा सत्तापर अधिकार करनेकी बात कही। केरलके नाक्सलाइट कम्यूनिस्ट श्रीकुन्नीकाल नारायनन्ने कालीकटमें खुले-आम 'चाइना पब्लिकेशन'की स्थापना की*। चीनके द्वारा शस्त्रोंकी सहायतासे भारतके अमुक प्रदेशोंको चीन-अधिकृत बनानेका प्रयास चल रहा है। इसपर सरकार क्या सोचती और कर रही है, पता नहीं। पर श्रीशंकराचार्यपर तो धर्मशास्त्रकी बात कहनेपर मुकदमा चला ही दिया गया है।†

माना, श्रीशंकराचार्यने कुछ जोशीले शब्दोंमें धर्मशास्त्र-की बात कही। पर उसपर हमारी संसद्में दायित्वज्ञानपूर्ण माने जानेवाले सदस्यों तथा अधिकारियोंने जो कुछ कहा, उसको 'श्रीअरविन्द आश्रम' पाण्डिचेरीके श्रीअनिलवरण रायने यदि 'पार्लमेंटमें हिस्टीरिया' (Hysteria in Parliament) कहा तो कोई अत्युक्ति नहीं है।‡

श्रीशंकराचार्यके द्वारा धर्मशास्त्रकी बात कहना घोर अपराध है तो क्या संसद्के सदस्यों तथा अधिकारियोंद्वारा 'फाँसी चढ़ा दिया जाय', 'अजायबघरमें रक्खा जाय', 'मेजके नीचे स्थान दिया जाय' और 'वर्णव्यवस्था'का प्रचार करनेवाले शंकराचार्य तथा ऐसे ही दूसरे लोगोंको खुलेआम कोड़े लगाये जायँ।'—आदि कहा जाना, उन्हें शंकराचार्यके पदके अयोग्य बताकर और शंकराचार्य-जैसे हिंदू सनातनियों-के द्वारा परम पूजनीय पीठका मज़ाक उड़ाना अपराध नहीं तो, क्या अविवेकपूर्ण, द्रोह-द्वेषप्रदर्शक, अनैतिक तथा अशोभनीय भी नहीं है?

दायित्वज्ञानपूर्ण शासक, लोकनायक, संसद्-सदस्य तथा उच्चस्तरीय अधिकारियोंको तो अपना जीवन ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक स्तरपर रखना चाहिये। उनकी वाणीमें, क्रियामें तथा मनमें संयमपूर्ण, विवेकपूर्ण, सर्वहितकर तथा शिष्टता-युक्त उच्च आदर्शके भाव भरे होने चाहिये, जिससे उनका अनुकरण करनेवाली जनताका नैतिक जीवनस्तर उत्तरोत्तर ऊँचा उठे।

यदि वे ही लोग इस प्रकार अनर्गल, अनैतिक, अशिष्टता-पूर्ण शब्दोंका उच्चारण तथा अनैतिक चेष्टा करेंगे तो जनता क्या सीखेगी? ऐसा करके वे क्या जनताको गिरानेमें कारण नहीं बन रहे हैं? इसपर वे शान्तचित्तसे गम्भीरतापूर्वक विचार करें। यह मेरा उनसे नम्र निवेदन है।*

इसीके साथ ऐसी बातें भी उठने लगी हैं कि—'शास्त्रोंके अमुक-अमुक अंशोंको गैरकानूनी घोषित कर दिया जाय, उनमेंसे वे अंश निकाल दिये जायँ, उनमें परिवर्तन कर दिया जाय अथवा उन ग्रन्थोंपर ही प्रतिबन्ध लगा दिया जाय।' यदि यह होने लगा तो अस्पृश्यता-निवारणके नामपर हिंदू सनातन-धर्मको समाप्त करनेका कुचक्र क्रियाशील हो गया, यह समझना चाहिये। आज

*"The import of Mao's Red Book is banned, yet on May day, thousands of them were being waved aloft, at the Ochterlony monument in Calcutta, as Mr. Kanu Sanyal announced the formation of a Maoist Communist Party, dedicated openly to the seizure of power through violence. And within a few days of the closer, of 'Rebel-publications' Kerala Naxalite Mr. Kunnikal Narayanan's Printing Press in Calicut, a 'brand new' publishing firm began operating from the same building Name? China Publication Ltd." ('Times of Indfa' 18 may 1969)

† संतोषका विषय है कि पटनाके न्यायाधीश महोदयने मुकदमा खारिज करके और यह कहकर कि—'श्रीशंकराचार्यने कानून भंग नहीं किया है तथा उन्हें धर्माचरणका अधिकार है—' न्यायकी रक्षा की। इस कर्तव्यपरायणता तथा न्यायशीलताके लिये धर्मानुरागी सभी उनके कृतज्ञ हैं।

‡ 'Light of India', Calcutta April 1969, page 5.

* गुजराती साप्ताहिक 'चेतमछंदर'के १०।५।६९ के अङ्कमें सौराष्ट्रकी प्रसिद्ध श्रीभुवनेश्वरी पीठके आचार्य जगद्गुरु श्रीस्वामीजी चरणतीर्थजी महाराजने लिखा है—"……… ता० १९।४।६९के बम्बईके हिंदी दैनिक 'नवभारत टाइम्स'के अङ्कमें प्रकाशित श्रीचह्वाण साहेबके द्वारा उच्चारित शब्द प्रजाने पढ़े हैं—'……… चातुर्वर्ण्य आदिकी वकालत करने तथा समर्थन करनेवाले लोगोंका उन्होंने देशका शत्रु और उनके साथ संघर्ष करना प्रत्येक व्यक्तिका प्रथम कर्तव्य बताया है। अतः उनके कथनानुसार तो चातुर्वर्ण्य अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रमें बँटी हुई ४५ करोड़ हिंदूप्रजा देशकी शत्रु हो तो क्या फिर शेष मुसलमान तथा ईसाई प्रजा ही देशकी मित्र है?"

अमुक पुराण, स्मृति या धर्मशास्त्रके अंशोंको गैरकानूनी बतायँगे, फिर पूरे ग्रन्थको बताने लगेंगे। आगे चलकर वेदोंका नम्बर भी आ सकता है। हमारे आर्यसमाजी भाई बड़े बुद्धिमान् हैं। वे अर्थभेद करना अवश्य चाहेंगे, पर ग्रन्थांश या किसी धर्मग्रन्थपर उसे गैरकानूनी घोषित कर प्रतिबन्ध लगाना उन्हें स्वीकार न होगा।

कुछ वर्षों पूर्व अपनेको 'विशुद्ध बुद्धिवादी' बतानेवाले एक नास्तिक सज्जनने कहा था कि 'मैं पुराणोंसे घबराकर 'आर्यसमाजी' बना, पर वहाँ भी 'वेद'की पोथीकी गुलामी ही दिखायी दी। तब 'बौद्ध' बना, कुछ दिन शान्ति रही, पर वहाँ भी पोथियोंका सम्मान तथा दासत्व मिला। तब उसको भी छोड़ दिया। अब मैं स्वच्छन्द विचरता हूँ। किसी भी पोथी या मत-पन्थका गुलाम नहीं हूँ।' इस मनोवृत्ति-पर ध्यान देकर सोचना है कि धर्मशास्त्रोंके अमुक अंशको गैरकानूनी घोषित करनेका क्या परिणाम हो सकता है। अतएव हिंदूमात्रको—इस विषयमें सावधान होकर पहलेसे ही गम्भीरताके साथ विचार कर मार्ग निश्चित कर लेना चाहिये। एक सज्जनने बहुत ठीक लिखा है कि 'यदि इसपर तत्काल विचार कर कदम न उठाया गया तो जो बात आज हम कह सकते हैं और जो काम आज हम कर सकते हैं, कल उनकी अभिव्यक्ति करनेसे भी हमें रोक दिया जायगा।'

मेरी अपने श्रद्धास्पद शास्त्रमर्मज्ञ विद्वानोंसे भी विनीत प्रार्थना है कि वे हिंदू-समाजमें कलह न उत्पन्न हो, इस बातको ध्यानमें रखते हुए शास्त्रवाक्योंके रहस्यार्थकी युक्तियुक्त समीचीन व्याख्या मधुर शब्दोंमें कर शास्त्रका यथार्थ मन्तव्य समझानेका प्रयत्न करें।

कुछ लोगोंके मतानुसार यह ठीक हो सकता है कि 'अखिल विश्व हिंदू-सम्मेलनमें जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराज इस विषयपर न बोलते तो अच्छा था। अब भी वे बहुत न बोलें तो अच्छा है।' पर वे जो कुछ बोले हैं सो तो शास्त्रीय ही है। हमारे एक सम्मान्य उच्चपदस्थ विचारशील मित्रने बड़े सद्भावसे लिखा है कि 'श्रीशंकराचार्यजी बार-बार इस विषयपर न बोलें। देशमें हिंदुओंका एक ऐसा राजनीतिसे अलिप्त संगठन होना चाहिये, जिसमें सभी विचारोंके हिंदू इकट्ठा होकर काम करें। नहीं तो, हमारी आपसकी फूटसे हिंदूविरोधी समुदाय अनुचित लाभ उठायेंगे।'

एक वैसे ही दूसरे उच्चपदस्थ विचारशील महानुभावने लिखा है—'श्रीशंकराचार्यजीके विचारोंसे मेरा मतभेद है। हमें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये जिससे हिंदूसमाजकी एकात्मताको चोट पहुँचे;...किंतु संसद्में जिन शब्दोंमें श्रीशंकराचार्यका उल्लेख किया गया है वह नितान्त अनुचित तथा बहुसंख्यक जनताकी भावनाको चोट पहुँचानेवाला भी है।'

ऐसे ही और भी कई पत्र आये हैं, जिनमें हिंदुत्वप्रेमी सभी मतोंके सज्जनोंको इकट्ठा होकर विचार करनेके लिये अनुरोध किया गया है।

अन्तमें मैं देशका हित चाहनेवाले सभी पक्षोंके महानुभावोंसे, खास करके हिंदू नेताओंसे विनीत प्रार्थना करता हूँ कि इस समय देशपर जो कम्यूनिस्ट तथा अन्यान्य भारतीय संस्कृति-सभ्यताके नाशक तत्त्वोंका जो हर तरफसे बहुमुखी आक्रमण हो रहा है तथा प्रबल वेगसे होने जा रहा है, सब लोग सारे मतभेदोंको भुलाकर एकमतसे सब साथ होकर उससे रक्षा पानेका सफल प्रयत्न करें।

वे गम्भीरतासे सोचें कि उनके पूर्वजोंके देश भारतकी महान् उच्च संस्कृतिपर बाहरसे और भीतरसे जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, साक्षात् कटु विषरूपमें या मीठे विषके रूपमें जो प्रबल आक्रमण हो रहे हैं, उनसे इस संस्कृतिकी रक्षा कैसे की जाय?

हिंदू-संस्कृति बची, बढ़ी, तो जगत्के सारे प्राणी सुखी होंगे और हमारा यह सहज नारा सफल होगा—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

कः पन्थाः

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे)

यह काम नहीं आसाँ इन्सानको मुश्किल है।
दुनियामें भला होना, दुनियाका भला करना॥
(दाग)

तीन या चार वर्ष पूर्वकी बात है। गर्मीके दिन थे। मुझे तुलसी-आश्रम स्टेशनसे वाराणसी जाना था। ट्रेन आनेमें देर थी। इस कारण यात्री अपने-अपने रंगमें मस्त थे। कोई प्लेटफार्मपर टहल रहा था, तो कोई बीड़ी सुलगा रहा था। कोई पुराना समाचार-पत्र उलट-पलट रहा था, तो कोई उपन्यास पढ़नेमें तल्लीन था। कोई बातोंमें तन्मय था, तो कोई एकाकी बेंचपर बैठे मौन सुदूर क्षितिजपर दृष्टि गड़ाये था। इन सबके बीच गाँवका एक किसान अपना घुटना हाथसे दाबे बैठा था। घुटनेसे नीचेका पैर फीलपाँवकी बीमारीके कारण हाथीके पैरकी भाँति फूल ही नहीं गया था, उसमें चारों तरफसे मवाद निकल रहा था।

मेरी दृष्टि पड़ी तो मैं सिहर गया। कितनी पीड़ा थी उसे, वह ही जानता था। उसके साथ कोई था भी नहीं, जो उसके साथ सहानुभूति दिखाता। वह किसान कदाचित् चिकित्साके लिये वाराणसी जा रहा था।

'वह अपने पापका फल भोग रहा है।' मेरी दृष्टि उधर गयी तो देखा लगभग सोलह वर्षका गौरवर्णका बालक आँखपर धूपका चश्मा चढ़ाये अपने समवयस्कके गलेमें बाँह डालकर हँसता हुआ कह रहा था।

हृदयसे जैसे अग्निमय शलाकाका स्पर्श हो गया हो। मैं छटपटा-सा गया। ये अबोध-से बालक, 'पाप' क्या है और उसका क्या परिणाम होता है, यदि ये सचमुच समझ पाते।

ट्रेन आयी, ठसाठस भरी। सामनेके डब्बेमें मैं चढ़ा और उसीमें वे बालक भी। गाड़ीने सीटी दी और चल पड़ी।

'सिर्फ आठ रुपये।' हँसते हुए चश्मेवाले लड़केने अपने साथीको रुपये दिखाते हुए कहा। 'पापीके पास होता भी क्या?'

मेरा सिर घूम गया। उस दुखी, दरिद्र और पीड़ित किसानका पुराना चमड़ेका मनीबेग गाड़ीमें चढ़ते समय लड़केने उड़ा लिया और शौचालयमें मनीबेग और टिकट फेंककर रुपयेके साथ बाहर आ गया था।

मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही थी। जो बालक आज इतना निर्दय और नृशंस है, वह कल कैसा असुर मानव होगा, समझमें नहीं आ रहा था। ट्रेन धुआँ और आग उगलती मुगलसराय पहुँची।

प्लेटफार्मपर चारों ओर पुलिस। पता चला, टिकट चेक किया जा रहा है। हे भगवान्! उस किसानकी क्या दुर्दशा होगी? कष्टसे पीड़ित, ऊपरसे पैसे और टिकट गायब। धड़कते हृदयसे मैं भीड़ और पुलिसकी ओर देख रहा था।

कितनी करुण स्थिति थी उस किसानकी। और मुझे स्मरण आया, जब दो वर्ष पूर्व जाड़ेके दिनोंमें मैं वाराणसीसे गोरखपुर जा रहा था। मैं बैठा था और भीड़में एक युवक जो मेरे सामने खड़ा था, इन्दारा स्टेशनपर मुझे जरा-सी झपकी आते ही मेरा पूरा बिस्तर लेकर उतर गया। उसमें मेरे आवश्यक वस्त्रोंके साथ कार्यालयके सैकड़ों पत्र थे। वस्त्रोंपर सरकारी नियन्त्रण था। अपनी दुर्दशा मैं ही जानता हूँ।

मैंने सुना है कि विदेशोंमें भी पाकेटमारी और चोरियाँ होती हैं, किंतु वे पाकेटमार और चोर सम्पन्न व्यक्तियोंके केवल पैसेपर ही हाथ साफ करते हैं। कागज-पत्र आदि वस्तुएँ अपना नाम छिपाकर निकटस्थ पुलिस-स्टेशनपर डाकखानेके माध्यमसे भेज देते हैं। पर पद-पदपर अंग्रेजियत अपनानेवाले भारतीयोंके पास इतनी बुद्धि और विचार कहाँ? ये तो मनुष्यताको ही तिलाञ्जलि दे चुके हैं!

आये दिन इस प्रकारकी घटनाएँ भारतवर्षमें सर्वत्र घट रही हैं। एक दिन समाचारपत्रमें एक घटना पढ़कर तो अवाक् रह जाना पड़ा। कलकत्तामें एक सम्भ्रान्त परिवारका बालक चोरी चला गया। कुछ दिनों बाद चोरका पता चला; किंतु तबतक बच्चेके दोनों हाथ काट लिये गये थे और दोनों आँखें फोड़ दी गयी थीं, वह इसलिये कि बालकसे भिक्षा-वृत्ति करायी जा सके और दाता करुणार्द्र होकर उसे

अधिक भीख दे सकें। स्त्री, बच्चों और कन्याओंका हरणकर उन्हें दूर ले जाकर बेच देनेकी घटनाएँ तो साधारण-सी बात हो गयी है। चोरी, डाका, खून आदिके समाचारोंसे तो आजके समाचारपत्रोंके पृष्ठ भरे रहते हैं।

स्वाभाविक ही मनमें विचार उदय होता है कि यह कैसे होता है? मनुष्य इतना निर्दय, इतना कठोर और इतना क्रूर कैसे हो जाता है कि दूसरेका गला काटनेमें उसे तनिक भी झिझक नहीं होती? वर्षों बाद अपने स्त्री-बच्चोंसे मिलने जानेवाले यात्रीका सर्वस्व हरण कर लेनेमें उसका हृदय क्यों नहीं फट जाता? यदि उसके हृदयमें दूसरेकी व्यथाके लिये तनिक भी जगह नहीं तो वह मनुष्य ही कैसा है? उसे तो 'पशु' और 'पिशाच' ही कहना चाहिये। मनुष्यका जन्म तो दूसरेके पीड़ा-निवारणके लिये हुआ है।

महमूद अयाज बंगलोरी कहते हैं कि 'ऐ मेरे मालिक! तेरी दुनियामें सम्पूर्ण प्राणियोंकी पीर छिपी हुई है। तुम्हें भूलनेका अर्थ सारे विश्वको भूल जाना है'—

तेरे आलममें जमानेका दर्द पिन्हाँ है।
तुझे भुलाऊँ तो दुनियाको भूलना होगा॥

तात्पर्य यह कि प्राणियोंके कष्टोंके प्रति सहानुभूति और उनके दुःखोंको दूर करनेके लिये प्राणार्पणकी भावना ही भगवत्स्मृति है। भक्तवर श्रीतुलसीदासजीकी उक्ति है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—द्वेष और कपटको त्याग दो। संघटित होकर दूसरोंकी सेवा करना सीखो—यही हमारे देशकी महती आवश्यकता है।

इस संदर्भमें रमण महर्षिकी एक घटना स्मरण हो आयी। एक बार रमण महर्षिके पास दो-तीन पादरी आये। उनके मनमें महर्षिके प्रति बड़ी ईर्ष्या थी। एक पादरीने महर्षिसे कहा—'हम सुनते हैं कि तुम प्रतिदिन प्रातःकाल दो-तीन घंटे भगवान्‌के समीप रहते हो, किंतु अब तुम्हारा दम्भ अधिक नहीं चल सकेगा। तुम हमलोगोंको अपने भगवान्‌के दर्शन कराओ, नहीं तो तुम्हारा पाखंड हमलोग बर्दाश्त नहीं करेंगे।'

अंग्रेजोंका शासन था, इस कारण पादरियोंका निरङ्कुश रहना कोई बड़ी बात नहीं थी। महर्षिने अत्यन्त शान्ति एवं स्नेहसे उत्तर दिया। आपलोग कल प्रातःकाल पधारें। मैं अपने भगवान्‌के दर्शन करा दूँगा।

पादरी चले गये। पर उन्हें रातमें नींद नहीं आयी। सबेरे ही तीनों महर्षिके पास पहुँचे। रमण महर्षि उनके साथ चल पड़े। डेढ़-दो मील दूर एक छोटेसे गाँवमें पहुँचे। उस गाँवमें एक अत्यन्त दरिद्र कोढ़ी रहता था। महर्षि उसके पास गये।

उन्होंने बड़े ही प्रेमसे कोढ़ीसे उसका हाल पूछा। अपने ही हाथों धीरे-धीरे उसका घाव धोया। उसपर पट्टी बाँधी। तीनों पादरी खड़े-खड़े देख रहे थे।

महर्षिने उनसे कहा—'यही मेरे भगवान् हैं, जिनके समीप मैं प्रतिदिन प्रातःकाल दो-तीन घंटे रहा करता हूँ।'

पादरी चकित थे। उन्होंने महर्षिसे क्षमा माँगी और कहा—'जीवनमें सर्वप्रथम हमने प्रभुपुत्र यीशुका दर्शन प्राप्त किया है।'

थोरो कहता है—'सिर्फ भले मत बनो, कुछ भलाई भी करो।'

याद रक्खो, निर्दोषको दी गयी पीड़ा पीड़कके लिये भयानक शिला बन जाती है, जिसके आघातसे वह चकनाचूर हो जाता है, धूलिमें मिल जाता है। कहते हैं कि एक नरेशने एक निर्दोष व्यक्तिको उसके अपराधका निर्णय किये बिना ही उसे मृत्यु-दण्ड सुना दिया।

निर्दोष व्यक्तिने कहा—'श्रीमान्! इस प्रकार मुझपर अपना रोष चरितार्थकर अपने लिये दुःखका बीजारोपण न करें, तो अच्छा रहे।'

नरेशने पूछा—'मैं अपने लिये दुःखका बीजारोपण कैसे कर रहा हूँ?' निर्दोष व्यक्तिने विनयपूर्वक उत्तर दिया—'महाराज! मेरा दुःख तो क्षणभरका है, किंतु आपके सिरपर पापका बोझ बढ़ेगा। अत्याचारी तो यह समझता है कि मेरे क्रोधकी तुष्टि हो रही है, किंतु उसका वह अत्याचार असहाय मनुष्यको छूकर अत्याचारीके ही सिरपर चढ़ बैठता है और उसकी पाप-राशिमें वृद्धि करता है।'

नरेश चतुर एवं बुद्धिमान् था। निर्दोष व्यक्तिकी बातोंका उसके मनपर प्रभाव पड़ा और उसने उस व्यक्तिको मुक्त तो किया ही, क्षमा-याचना भी की।

निखिल सृष्टिके स्रष्टा श्रीभगवान् हैं, उनकी अनन्त एवं

अपरिसीम दयासुधाकी वृष्टि सम्पूर्ण सृष्टिपर नित्य हो रही है। वे करुणामय प्रभु सबके हैं और कीट-पतंगादिसे लेकर पशु-पक्षी और मनुष्यतक चराचर प्राणी—सबके एकमात्र वे ही प्रभु हैं। सबमें वे ही व्याप्त हैं। तृण-लता-गुल्मादि तथा कीट-पतंगादि सभी जीवोंके रूपमें वे ही प्रभु तो लीला कर रहे हैं। फिर हम किससे घृणा करें, किससे द्वेष करें ? वह घृणा और द्वेष तो अपने-आपसे ही होगी।

खलील जिब्रानने कहा था—'घृणाका अर्थ ही किसी मृत वस्तुको याद रखना है। तो भला कौन कब्रिस्तानमें रहना पसंद करेगा ?'

फारसीके विद्वान् शेख सादीकी प्रसिद्ध कहानीका सार है कि 'सुलतान महमूद सुबुक्तगीनकी मृत्युके सौ वर्ष बाद खुरासानके* बादशाहने एक रात स्वप्नमें देखा कि सुलतानके अङ्ग-प्रत्यङ्ग गल चुके हैं, मिट्टीमें मिल गये हैं किंतु उनके दोनों चमकीले नेत्र अपने-अपने गोलकमें बड़ी अधीरतासे इधर-उधर देख रहे हैं, जैसे कुछ खोज रहे हों।'

स्वप्न देखकर बादशाह बेचैन हो गया। वह उस स्वप्नका अर्थ नहीं समझ पा रहा था। अन्ततः उसने अपने राज्यके प्रसिद्ध विद्वान् तथा स्वप्नफल बतानेवालोंको बुलाकर इस स्वप्नका अर्थ पूछा। किंतु, स्वप्नका समाधानकारक उत्तर किसीसे नहीं बन पड़ा।

अन्ततः एक फकीरने कहा—'शाहंशाह, जरा-सी बात है। आज सुलतानके राज्यका शासन दूसरे लोग कर रहे हैं। इसलिये उनके नेत्र चारों ओर घूम-घूमकर देख रहे हैं कि कहीं मेरा भी चिह्न है या नहीं ? आज धरतीके नीचे असंख्य पुरुष सोये पड़े हैं, किंतु उनका इस नश्वर जगत्‌में कोई अवशेष नहीं। लेकिन ईरानके न्यायी और प्रजापालक नौशेरवाँका नाम आज भी आदरसे लिया जाता है, जब कि कब्रमें उसकी हड्डीका एक टुकड़ा भी प्राप्य नहीं। सिर्फ नेकीके कारण उसका नेक नाम कायम है। अतएव मनुष्य जबतक जीवित रहे नेकी करे और दुर्लभ जीवनसे लाभ उठाये। जितनी आयु शेष है, उसे गनीमत समझे और अमुक व्यक्ति धरतीसे उठ गया, इस शब्दके उठनेसे पहले जितना हो सके परहित कर जाय।'

फकीरका उत्तर सुनकर बादशाहकी चिन्ता दूर हो गयी और वह शुभ कार्योंमें लग गया।

सचमुच यह जीवन नदीके पानीके समान है। बहता हुआ नदीका पानी जो सामनेसे निकल जाता है, फिर हाथ नहीं आता। उसी प्रकार भूतकाल फिर हाथ नहीं आता। भाग्यवान् और चतुर वे हैं, जो समयके एक-एक क्षणका भरपूर सदुपयोग करते हैं।

इंग्लैंडकी महारानी एलिजाबेथ मृत्युशय्यापर पड़ी थीं। चिकित्सकने बताया 'आप पाँच मिनट और जीवित रह सकती हैं।' कहते हैं, रानी चिल्ला उठी 'अपने विशाल साम्राज्यका अर्द्धांश मैं उस व्यक्तिको देनेके लिये प्रस्तुत हूँ, जो मुझे इस धरतीपर आधा घंटा रोक ले, जिससे मैं अपने अपराधोंके लिये प्रभुसे क्षमा-प्रार्थना कर लूँ।'

किंतु यह किसीके वशकी बात नहीं थी। रानीका शरीरान्त हो गया। इसी कारण भविष्यमें कुछ करनेका विचार त्यागकर तत्काल ही शुभ उद्योगमें लग जाना बुद्धिमानी है।

धर्ममर्थं च कामं च मोक्षं च जरया पुनः।
शक्तः साधयितुं तस्माद् युवा धर्मं समाचरेत् ॥
(प० पु० भू० खण्ड ६६। ११७)

'बुढ़ापेसे आक्रान्त होनेपर मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमेंसे किसीका भी साधन नहीं कर सकता। इसलिये युवावस्थामें ही धर्मका आचरण कर लेना चाहिये।'

भक्तराज प्रह्लाद तो युवावस्थाकी प्रतीक्षा भी नहीं करना चाहते। वे अपने बालक बन्धुओंसे कहते हैं—'इस संसारमें मानव-जन्म दुर्लभ है। इसमें परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। पर पता नहीं, इसका कब अन्त हो जाय; इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको बचपनमें ही भागवत-धर्मोंका आचरण कर लेना चाहिये—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥
(श्रीमद्भागवत ७। ६। १)

* ईरानका एक प्रान्त।

हुंडी

[कहानी—सत्य घटनाके आधारपर]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

(१)

त्रिलोकचन्दने बचपनसे ही गुरुदीक्षा ले ली थी और वे प्रातःकाल ही ब्राह्ममुहूर्त्तमें शय्यात्याग, प्रातःकृत्यसे निवृत्त हो आसनपर बैठकर 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस गुरु-मन्त्रका जप, मौन हो करने लगते थे। इसके पश्चात् साधु-संत, दीन-हीन, भिक्षु, अपंग, अभ्यागतकी खोज करनेको नगरमें जाते और जहाँ कोई ऐसा अनाथ व्यक्ति मिलता, उसकी यथाशक्ति सेवा कर सुख मानते थे।

इनके छोटी दूकान थी। पूँजी थोड़ी थी। ईमान, सचाई और ईश्वरीय भयको हृदयमें रखकर सौदासूत सही-सही तौलकर सस्ते भावोंमें ग्राहकोंको देते-लेते थे।

उनकी पत्नी संतोष भी पतिकी भाँति ही सेवाभावी थी, किंतु उसमें इतना गुण और अधिक था कि नगरमें जहाँ कोई रुग्ण होता, वहाँ पहुँचकर उसकी इतनी सेवा-शुश्रूषा करती कि बीमारको आराम मिलता। उसके पश्चात् घर आकर भोजनादि करके भगवान्के नाम-स्मरणमें तल्लीन हो जाती थी।

इस धर्मपरायण दम्पतिके केवल एक पुत्र था। धनाभावके कारण मोहनकी ऊँची शिक्षा नहीं हो सकी। तो भी इस अपढ़ पुत्रका शीघ्र ही विवाह कर देनेके सम्बन्धमें एक दिन संतोषने बड़े ही विनम्र भावसे कहा—'आप मेरे नेत्रोंके तारे, सुख-स्वार्थके सार, सिरछत्र और प्राणोंके आधार हो।* मैं अब अधिक दिनोंतक जीवित नहीं रहूँगी। पुत्र-वधूका मुखड़ा दिखा दो।'

त्रिलोकचन्दने पत्नीके विशेष आग्रहसे एक ब्याजखोर हरसुखसे रुपया उधार लेकर पुत्र मोहनका विवाह कर दिया। पुत्रवधूको देखकर संतोषको बहुत हर्ष हुआ। किंतु वर्षभरमें वह और त्रिलोकचन्द स्वर्गवासी हो गये।

× × ×

मोहनकी पत्नी शारदा भी धर्मनिष्ठ माता-पिताकी पुत्री थी। घरके काम और सेवासे निवृत्त हो नित्य भगवान्की पूजा, नामजप और तुलसीकी पूजा मन लगाकर करती थी।

कुछ दिन पत्नी-पतिके सुखपूर्वक बीते। किंतु फिर हरसुखने अपने ऋणकी वसूलीका तकाजा किया। वह प्रतिदिन आकर मोहन और उसकी पत्नी शारदाको खरी-खोटी बातें सुना जाया करता था। अपढ़ मोहन उपार्जन करनेमें असमर्थ होनेके कारण दोनोंका निर्वाह होना ही कठिन था, फिर ऋण कहाँसे चुकाता? ब्याजसमेत ऋण बढ़ता ही गया। कहा है—

पावक बैरी रोग ऋण, सपनेहु राखिय नाहिं।
ये थोड़े ही बढ़हिं पुनि, महा जतन सों जाहिं॥

दिन-पर-दिन जाते रहे। उधर ब्याज बढ़ते-बढ़ते ऋणकी निधि अधिक बढ़ गयी। एक दिन हरसुखने आकर ऐसी धमकी दी कि मोहन और शारदाका जीवन भारी कठिनाईमें पड़ गया। दो दिनोंका अवकाश दे एवं असभ्य भाषाके कठोर वचन सुनाते हुए हरसुख घर चला गया।

कठोर वचन हृदयमें तीरके समान लगनेसे पति-पत्नी भारी उदास हो गये। रातभर अनेक दुःखभरे विचार मोहनके मनमें आते रहनेसे वह नितान्त हताश हो गुनगुनाता रहा। प्रातःकाल ही शारदाने उसके मुखकी ओर निहारते-निहारते जान लिया कि ये आत्म-हत्या करनेपर 'उतारू हैं। यह जानकर धैर्य बँधाते हुए उसने मोहनसे कहा—'आप मर्द हैं, मर्दानगी रक्खें, इस प्रकार उदास होकर आत्मघात करने-जैसा पाप करनेकी बात स्वप्नमें भी न सोचें। प्रभुके ऊपर भरोसा रक्खें। वे अशरणशरण, संकटहारी भगवान् हमारी अवश्यमेव रक्षा करेंगे। पण्डितजीके बताये हुए—

'कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥'

---

* आंख्यां रा तारा अवस, सुख स्वारथ रा सार।
साहब सिर रा सेहरा, आतम रा आधार॥
(राजस्थानी दोहा)

—इस श्लोकका हम विश्वासपूर्वक पाठ करें और प्रभुको बारंबार नमस्कार करें और उनसे प्रार्थना करें।

'पूजनीया सासजी मुझसे कई बार कहती थीं कि 'अपने ग्रामके सेठ जीवनदास बड़े परोपकारी, परदुःखभञ्जन और परम ईश्वरपरायण हैं। अपरिचितकी भी सहायता करते हैं।' उनपर, हरसुखकी जितनी रकम व्याजसमेत आपको देनी हो, उतनी रकमकी हुंडी लिख दो। हुंडीका उत्तर आनेमें चार दिन तो लगेंगे ही। इन चार दिनोंतक हम अनशन व्रत रखकर खूब हरि-भजन करेंगे और विषके दो प्याले पास रख लेंगे। जब हरसुख आकर हमारे द्वारके कपाट खटखटायेगा, तभी विषपान कर लेंगे। परंतु प्रभुकी ओरसे मेरे अन्तरमें ऐसी ध्वनि हो रही है कि विषपान करनेका अवसर ही नहीं आयेगा और प्रभु अवश्य ही हमारी सहायता करेंगे।' ऐसा निश्चय करके दोनों उपर्युक्त क्रियामें जुट गये।

दूसरे दिन हरसुखने प्रातःकाल ही आकर कर्कश वाणीमें कहा—'मैंने दो दिनोंका अवसर दिया था, परंतु आज संध्या समय मुझे अचानक एक आवश्यक कार्यके हेतु बंबई जाना पड़ रहा है। अतः आज संध्याको तुम्हारी प्यारी-से-प्यारी वस्तु बेचकर मेरा व्याजसहित कुल रुपया दे दो। यदि रुपया नहीं दिया, तो स्मरण रखना, मैं आपेसे बाहर होकर तुम्हारी इज्जत-प्रतिष्ठा धूलमें मिला दूँगा।'

इन कठोर वचनोंसे अत्यन्त दुःखित हो शारदाने हरसुखको थोड़ी देर प्रतीक्षा करनेको कहा और पतिसे बोली—'पूज्य श्वशुरजीने कुछ निधि सेठ जीवनदासके यहाँ अमानत रक्खी है और उस निधिका संकटके समयमें उपयोग करना—मुझसे कह गये हैं। आजकल सेठ अपनी पेढ़ीपर बम्बई हैं। उनपर चूकते रुपयेकी हुंडी लिख दो।'

पति मोहनने ऐसा ही किया और हुंडीपर 'संकटो हरण प्रभु विजयते' ऐसा लिखकर ६००) रुपयेकी हुंडी लिख हरसुखको दे दी।

× × ×

हरसुखने यह हुंडी जब जीवनदासकी पेढ़ीके प्रधान मुनीमको ले जाकर दी, तो मुनीमने कहा कि हुंडीका रुपया देनेका नियम २४ घंटेका होनेसे आप कल आइये। इस अवधिमें मुनीमने पाँच वर्षके बहीखाते देखे, किंतु कहीं भी हुंडी लिखनेवालेकी निधि जमा नहीं पायी गयी, नामतक नहीं मिला। यह देखकर मुनीमको बड़ा आश्चर्य हुआ।

दूसरे दिन जब हरसुख हुंडीका रुपया लेनेको पहुँचा, तो मुनीमने सेठजीको सारा तथ्य बता दिया। सुनकर सेठ विचारमें मग्न हो गये। 'कोई खोटी हुंडी तो लिखता नहीं। निधि जमा कराना भूल गया होगा। अब मेरी दूकानसे यदि यह हुंडी नहीं सकारी गयी, तो मेरी साखमें बट्टा लगेगा। दूकानकी प्रतिष्ठा तो रखना ही है। हे प्रभु! इस कठिनाईमें मुझे सद्बुद्धि दीजिये।' ऐसा विचारते हुए सेठके हृदयमें भगवत्प्रेरणासे सात्त्विक भावोंका उदय हो आया। उन्होंने हुंडीके ऊपर लिखा हुआ पढ़ा—'संकटोहरण प्रभु विजयते' इस सूत्रने सेठ जीवनदासको बहुत कुछ समझा दिया। उन्होंने हुंडीको पूरी पढ़े बिना ही धीरेसे मुनीमको कहा—'इस हुंडीके रुपये खर्चखाते लिखकर दे दो।'

रुपया दे दिया गया। हरसुखको रुपया पाकर हर्ष भी हुआ और आश्चर्य भी।

(२)

प्रातःकालका शीतल, सुखद, सुगन्धित समीरण चारों ओर आनन्दकी वर्षा कर रहा था। मोहन-शारदा अपने कक्षमें हरिभजनमें तल्लीन थे। सामने ही सिंहासनपर विराजमान श्रीमुरलीधरके दर्शन कर उनके अन्तःकरणमें हर्षातिरेक हो रहा था। पास ही विष घुले हुए दो कटोरे रक्खे थे। इतनेमें ही द्वारके कपाट खटखटानेकी ध्वनि उनके कानोंमें आयी। दोनों चौंके। सोचा, अब विष-पान करनेका समय आ गया। दोनोंने अपने-अपने विषके कटोरे उठा लिये। अधरोंसे लगाकर मुखमें विष प्रवेश कराने ही वाले थे कि शारदाको स्फुरणा हुई—द्वारपर जाकर देखूँ तो। यह सोच, विषका प्याला नीचे रख, उसने पतिसे कहा—'आप विष-पान न करें। प्याला धरतीपर रख दें। मैं कपाट खोलकर हरसुखसे विनयपूर्वक हाथ जोड़ कहूँगी कि आप दो पहरतक और रुकें, प्रभु कहींसे निधि भेजनेहीवाले हैं।'

कपाट खुलते ही हरसुख दौड़ा हुआ घरमें आ मोहन-शारदाके पैरोंमें गिर गया और कटुवचनोंके लिये हाथ जोड़कर क्षमा माँगने लगा। बोला—'मुझे ज्ञात नहीं था कि आपकी इतनी बड़ी साख है। मैं रुपया लेकर बम्बई नगरके दर्शनीय स्थानोंको देखनेके निमित्त वहाँ चार पाँच दिन ठहरने-

वाला था; किंतु हृदयने प्रेरणा दी कि शीघ्रातिशीघ्र आपके पास आ दुर्व्यवहारकी क्षमा-याचना करूँ। इसीसे घर न जाकर सीधा ही यहाँ आया हूँ। मुझे बारंबार धिक्कार है कि मैंने न कहने योग्य कटुवचन भी आपसे कहे और आप दोनोंने बिना उत्तेजनाके उन्हें सहन किया। मुझ-जैसे धनवान्‌को आपके ६००) रु० की अभी आवश्यकता नहीं थी। आप धीरे-धीरे कमाकर देते तो मुझे कोई हानि नहीं होती, परंतु परम शत्रु स्वार्थने मुझे धन-मदमें अंधा बना दिया था। अब आप मुझे क्षमा कर देनेका वचन दें, तब मैं यहाँसे घर जाऊँगा।'

मोहन-शारदाने हरसुखकी आवभगत कर उसे ऊँचे आसनपर बैठाते हुए विनम्रभावसे कहा—'परम आदरणीय हरसुखजी! हम तो प्रभु-चरणोंके चेरे हैं। मानापमानका भान प्रभुने दूर भगाकर अपना कृपा-करकमल हमारे मस्तकपर रख हमें निश्चिन्त बना दिया है। उन्हींकी प्रेरणासे आपको रुपये अनायास मिल गये। हम तो प्रभुकी इस अहैतुकी कृपासे धन्य-धन्य हो गये हैं। हमारी ओरसे हजार बार क्षमा है; परंतु मन-स्वभावके विषयमें कहा है कि—'बींधते समय मोतीके फट जानेसे मोती फिर मँगाया जा सकता है, किंतु एक बोलके आघातसे फटा हुआ मन किसी भी मूल्यमें नहीं मिलता।'* मोहन-शारदाके हर्षका आज पार नहीं है। इनकी प्रभुपर अनन्य श्रद्धा तो थी ही। आजसे वे पुष्प-समान हल्के बनकर प्रभु-प्रेममें मस्त हो अर्द्धरात्रितक हरिभजन करनेमें दत्त-चित्त हो गये।

निर्धनताके कारण कोई धंधा करनेमें मोहन असमर्थ था। एक दिन शारदाने कहा—'आज स्वप्नमें मुझसे एक योगी पुरुषने कहा है कि तेरे पतिको आज थोड़ी सहायता मिलेगी, व्यापार कर।'

इस ईश्वरीय प्रेरणापर विश्वास कर जब मोहन बाजारमें गया तो एक मनुष्यने मिलते ही उससे कहा—'मोहन! तेरे पिताजीके दिये हुए आशीर्वाद मुझे फले हैं। तू मेरी दूकानपर बैठकर धंधे-व्यापारका अनुभव कर।'

मोहनने राघवकी दूकानपर बैठकर थोड़े ही दिनोंमें अच्छा अभ्यास कर लिया! इससे राघवने थोड़ी पूँजी दे उसको अलग दूकान करवा दी। अभ्यास-अनुभवके कारण मोहन व्यापारमें खूब कमाने लगा और पाँच-सात वर्षोंमें वह धनाढ्य बन गया।

दोनोंको एक दिन अचानक स्मरण आया कि हमारा विष-पान एवं आत्मघात करना टालनेवाले सहायक सेठ जीवनदासजीका रुपया चक्रवृद्धि व्याजसमेत लौटाना चाहिये। यह निश्चय होते ही तुरंत मोहन एक बड़ी निधि लेकर बम्बई गया।

बम्बईमें एक अपरिचित व्यक्तिको रुपये देते देखकर सेठ जीवनदासने बड़ा अचम्भा किया। पूछनेपर मोहनने हुंडीपर 'संकटो हरण प्रभु विजयते' लिखा होनेकी याद दिलायी। तब स्मृति आनेपर सेठ मोहनका आदर-सत्कार करते हुए बोले—'भाईजी, वह निधि तो मैंने अपने यहाँ बहीमें खर्च-खाते लिखवाकर जमा-खर्च बराबर कर दिया है। अतः इन रुपयोंकी मुझे अब आवश्यकता नहीं है।'

इधर, मोहनने निश्चय कर लिया कि सेठजीको यह निधि देकर ही घर लौटूँगा। उसने सेठके परोपकारी कार्यकी सराहना करते हुए निधि लेनेका बहुत ही आग्रह किया; किंतु सेठने लेना स्वीकार किया ही नहीं। अन्तमें कुछ धर्मात्मा सज्जनोंकी सम्मतिसे इस निधिसे एक अनाथालयका निर्माण करा दिया गया, जिसका नाम रक्खा—'जीवन-मोहन-अनाथालय'। उसके संचालन-प्रबन्धके लिये उदार सेठ जीवनदासने अपनी पेढ़ीसे पर्याप्त रकम दिलवा दी।

मोहन-शारदा, सेठ जीवनदास, राघव महाजन—ये तो हरिभक्त एवं प्रभु-पाद-पद्मोंके अनन्य सेवक थे ही। इनकी दृढ़ हरि-भक्तिको देखकर हरसुखके चित्तपर भी ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह अब थोड़े ब्याजपर ऋण देने लगा और ऋणकी वसूलीमें कभी किसीसे कड़ी बात कहना उसने सर्वथा छोड़ दिया तथा जीवनपर्यन्त प्रभुपरायण हो आनन्दपूर्वक हरि-रसका पान करता रहा।

---

* मोती फाट्यौ बींधतां, मन फाट्यौ इक बोल। मोती फेर मँगावसां, मनड़ौ मिलै न मोल॥

(राजस्थानी दोहा)

'सत पंच चौपाई मनोहर'

(लेखक—डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

उत्तरकाण्डके अन्तमें भक्तवर तुलसीदासजीने पूर्ण विश्वासके साथ हमें यह आश्वासन दिया है कि—

सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन अविद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरै॥

यहाँ 'सत पंच' इन दो शब्दोंने बहुत लोगोंको उलझनमें डाल रक्खा है। 'सत पंच' को गोस्वामीजी-ने किस अर्थमें प्रयोग किया ? उनका 'सत पंच'से क्या मतलब था ? किसीका कहना है कि 'सत पंच' का अर्थ ५१०० है। श्रीरामचरितमानसमें कुल मिलाकर ५१०० चौपाइयाँ हैं; इसलिये 'सत पंच' से सम्पूर्ण मानस अभिप्रेत है। विनायकी टीकाकारका मत है कि कविवर तुलसीदासजीका अभिप्राय किन्हीं चुनी हुई ५०० चौपाइयोंसे है; क्योंकि 'सत' का अर्थ है १०० और 'पंच'का अर्थ ५ है। किसीका विचार है कि 'सत पंच' से १०० और ५ अर्थात् १०५ का अर्थ लेना ठीक है। कोई कहते हैं कि 'सत पंच' में 'सत' का अर्थ ७ और 'पंच'का ५ है। इसलिये 'सत पंच' १२ के बराबर हुआ। बारहका अंक विशेष महत्त्व रखता है। कालचक्रमें १२ ही राशियाँ हैं, जो हमारे भाग्यका नियन्त्रण करती हैं। किसीका विचार है कि 'सत पंच' के ७ और ५ से ३५, किसीके विचारसे ५७, किसीके मतसे ७५ अर्थ लेना ठीक है। कोई कहते हैं कि 'सत पंच' से सात या पाँचका अर्थ लेना चाहिये, परंतु इसपर यह विपत्ति है कि सात या पाँच चौपाइयोंमें श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान कहीं भी मानसमें नहीं पाया जाता, इस कारण यह अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। संक्षेपमें लोगोंका कहना है कि 'सत पंच' चौपाईसे गोस्वामीजीका मतलब चुनी हुई किन्हीं १२ या ३५ या ५७ या ७५ या १०५ या ५०० चौपाइयोंसे है, या हो सकता है ५१०० चौपाइयोंकी सम्पूर्ण श्रीरामचरितमानससे है।

'सत पंच' के अर्थमें पहली कठिनाई तो अंककी है कि 'सत पंच'से कौन-सा अंक ग्रहण करना उचित है। दूसरी कठिनाई यह है कि यदि कोई एक अंक किसी तर्कके आधारपर ठीक मान लें तो फिर प्रश्न उठेगा कि उतनी चौपाइयाँ किस स्थल या प्रसंगकी ली जायँ और फिर उस प्रसंगमें किस दोहे, सोरठे या छन्दके बादसे चौपाइयोंकी गणना आरम्भ की जाय ?

कुछ महानुभावोंने 'सत पंच'को अंकोंके अर्थमें नहीं लिया है। उनका कहना है कि 'सत' का मतलब है 'सच्चा' अथवा सात्त्विक और 'पंच' का अर्थ ५ नहीं है बल्कि पंच है जो निर्णय करता है। उनके विचारानुसार 'सत पंच'से गोस्वामीजीका अभिप्राय सच्चे या अच्छे पंचसे है जो भीषण कलिकालद्वारा पथभ्रष्ट किये गये मनुष्योंको सच्ची राय देकर, उन्हें सन्मार्गपर खींचकर फिरसे ले आनेमें सहायक हो।

यद्यपि उपर्युक्त अर्थ ऐसे साधक और मानस-मर्मज्ञोंके बतलाये हुए हैं जो हमारे आदरणीय और श्रद्धास्पद हैं और इन अर्थोंको स्पष्ट करनेमें कभी-कभी विस्तृत और सूक्ष्म तर्ककी सहायता ली गयी है। फिर भी इन अर्थोंसे चित्तको संतोष नहीं होता और घूम-फिरकर बात वहीं आ जाती है जहाँसे यह उठी थी कि 'सत पंच'से गोस्वामी तुलसीदासजीका क्या अभिप्राय था ?

मानसका अर्थ करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि श्रीरामचरितमानस उस अर्थमें पुस्तक नहीं है जिस अर्थमें हम आजकल छपी कृतियोंको पुस्तक कहते हैं। रामकथाके वानर वैसे वानर नहीं थे जैसे वानर हम आजकल देखते हैं। वे अलौकिक वानर थे—

जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा॥
बनचर देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं॥

इसी प्रकार श्रीरघुनाथजीके राज्यका समय साधारण समय नहीं था। वह अलौकिक काल था—

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥

× × ×

ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी॥

न श्रीकौशल्यानन्दनका अवतरण मानवीय था। हम जन्म लेते हैं, परंतु करुणानिधान प्रकट हुए—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।

हमारी उत्पत्ति इहलौकिक है। प्रभुका अवतरण अलौकिक था। इसी प्रकार करुणानिधानकी दिव्य लीलासे परिपूर्ण श्रीरामचरितमानस अलौकिक वस्तु है। यही कारण है कि श्रीजानकीजीवन और श्रीरामचरितमानसमें बहुत साम्य है। विभीषणने विह्वल होकर करुणानिधानसे कहा था—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

वैसे ही अनन्त आर्त्तजन श्रीरामचरितमानसका सुयश सुनकर त्राहि-त्राहि करते हुए इसके शरणागत होते हैं और अनुपम शान्ति और भय-मुक्ति पाते हैं। जिस प्रकार सरकार श्रीरघुनाथजी पतितपावन हैं, उसी तरह श्रीरामचरितमानस पतितपावन है। या तो श्रीराघवेन्द्रकी कृपा ऐसी है कि उसका अन्त नहीं हो सकता या श्रीरामचरितमानस ऐसा है—

जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।

रहस्यमय ऐश्वर्य और माधुर्य-भरी जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकी अवतार-लीला है, वैसी ही गुप्त ऐश्वर्य और अकथ माधुर्य रससे परिपूर्ण श्रीरामचरितमानस कथा है।

अवतारीके गुण अवतारमें प्रकट हैं; क्योंकि श्रीरामचरितमानस करुणानिधानका पुस्तक-रूपमें अवतार है।

परंतु 'सत पंच चौपाई'के उपर्युक्त अर्थ करनेवालोंकी दृष्टिसे श्रीरघुनाथजी और श्रीरामचरितमानसकी यह समानता दूर रही—यह आश्चर्य है। इन दोनोंमें एक विशिष्ट समानता सरलपनकी है। नीलकमल राजीवनयन करुणानिधान प्रभुके स्वभावमें अतिशय सरलता है—

सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं—

संत 'सरलचित्त' होनेके कारण ही प्रभुको अत्यन्त प्रिय हैं। इसलिये उनके भक्त अपने स्वभावमें सरलताको मुख्य स्थान देनेका प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार श्रीरामचरितमानसके आनन्द-प्राप्तिके लिये उसके अर्थ स्पष्टीकरणमें सरलता अभीष्ट है। मानसका जो सरलताद्वारा अर्थ प्राप्त होता है, वह उस अर्थसे अधिक संतोषप्रद होता है, जो शब्दोंको तोड़-मरोड़कर या केवल बुद्धिबलके आश्रयपर किया जाय। 'सत पंच' का सरल अर्थ 'सात-पाँच' है, जो साधारण बोलचालमें 'कुछ'से अभिव्यक्त होता है। अगर हम यह सीधा अर्थ लें तो 'सत पंच चौपाई' का 'पाँच-सात' या 'कुछ' या 'थोड़ी-सी' चौपाइयाँ अर्थ हुआ। कुछ लोगोंका कहना है कि पाँच-सात चौपाइयोंमें श्रीकरुणामय प्रभुका अच्छा ध्यान मानसमें कहीं नहीं पाया जाता, इसलिये यह अर्थ सुसंगत नहीं है। यदि प्रभुका ध्यान कहीं भी इतनी छोटी परिधिमें मानसमें नहीं पाया जाता तो इसमें हानि क्या है?

'सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।'

—में भक्तवर तुलसीदासजी यह कहाँ कहते हैं कि 'सत पंच चौपाईं' द्वारा श्रीरघुनाथजीका ध्यान हृदयमें धारण करो? वे तो चौपाइयोंको हृदयमें धारण करनेको कहते हैं, 'कुछ' चौपाइयोंको, 'सत पंच' चौपाइयोंको जो मनोहर लगें। वे प्रभुके ध्यानको उरमें धारण करनेको नहीं कहते हैं। 'श्रीरघुनाथजी'का सम्बन्ध दूसरी पंक्तिसे है।

सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरै॥

श्रीरघुनाथजीका सम्बन्ध अविद्याके विकारहरणसे है, 'उर धरै'से नहीं है। यदि कोई पूछे कि सत पंच मनोहर चौपाइयोंके हृदयमें धारण करनेसे श्रीरघुवीर उस व्यक्तिका अविद्याजनित विकार कैसे हर लेते हैं तो इसका उत्तर यह है—श्रीरामचरितमानस दिव्य है। यह कोई मामूली किताब या साधारण कविता नहीं है।

राम प्रताप प्रगट एहि माहीं।

इसमें श्रीरघुवीरका प्रताप स्पष्ट है, प्रकट है और अपने इस अलौकिक प्रतापके द्वारा जिसने मानसकी चौपाइयोंको मन्त्रवत् शक्ति दे रक्खी है, श्रीरघुवीर उस व्यक्तिका अविद्याजनित विकार नाश कर देते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि कविवर तुलसीदासजी जो 'कुछ' चौपाइयोंको उरमें धारण करनेको कहते हैं, वे कौन-सी चौपाइयाँ हैं और किस प्रसंगकी हैं? गोस्वामीजीने इसका बड़े सरल शब्दोंमें स्पष्ट उत्तर दिया है। वे कहते हैं—

'मनोहर जान'

अर्थात् जो चौपाइयाँ मनोहर लगें उन्हींको उरमें धरो। कविवर किसी विशेष स्थलकी चौपाइयोंकी ओर संकेत नहीं करते। वे यह भी नहीं कहते कि जो सर्वमान्य मनोहर चौपाइयाँ हैं, उनको हृदयमें धारण करो। गोस्वामीजी तो केवल यह कहते हैं—

—मनोहर जानि—

अर्थात् जो चौपाइयाँ मनोहर लगें, जिन चौपाइयोंको तुम मनोहर समझो। उनका आदेश है कि किसी स्थलकी भी चौपाइयाँ हों यदि वे तुम्हारे मनको मोह लें तो उन्हें 'उर धरो'। महाकवि रुचिभेदको स्वीकार करते हैं। वे पाठकके व्यक्तित्वको पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं, इसलिये उनका आदेश है कि जो तुमको मन भावे उन चौपाइयोंको हृदयस्थ करो।

परंतु रुचि-भेद व्यक्ति-भेदपर ही नहीं समाप्त हो जाता। यह भी सम्भव है कि एक ही व्यक्तिको आज जो चौपाइयाँ मनोहर लगें वे कुछ समयोपरान्त उसे उतनी अच्छी न लगें और अन्य कोई चौपाइयाँ उसका मन मोह लें। यह पसंद उसकी परिस्थिति, वातावरण, मानसिक अवस्था या 'मूड' पर निर्भर करती है। रुचि परिवर्तनशील है तथा समय और परिस्थितिसे प्रभावित होती है। इससे यह निर्णय निकलता है कि एक स्थल या एक क्रमकी चौपाइयाँ एक व्यक्तिके लिये भी सदा एक-सी मनोहर नहीं होंगी।

यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो मालूम होगा कि कविवर तुलसीदासजीका 'मनहर' और 'जानि' शब्दोंपर विशेष आग्रह है। चौपाइयाँ 'मनहर' हों और जो उनको चुने वह किसीकी कही हुई बात मानकर नहीं, बल्कि अपने अनुभवसे 'जानि' अर्थात् अपनी रुचिके अनुसार उनको मनोहर जानकर पसंद करे। गोस्वामीजीका यह अभिप्राय है कि श्रीरामचरितमानसके सम्पर्कका प्रभाव क्षणिक न रहे। पाठोपरान्त हम मानसके अमूल्य आनन्दको भूल न जायँ। इस कारण कविवरका यह कहना है कि प्रतिदिनके मानस-पाठमें जो कुछ पाँच-सात चौपाइयाँ हमको मनहर लगें, पसंद आ जायँ, दिलमें चुभ जायँ उनको दिनभरके लिये हम अपने उरमें धारण कर लें अर्थात् उस दिन उन चौपाइयोंको समय-समयपर मनमें दोहराते रहें, उन चौपाइयोंके अर्थपर विचार करते रहें, उनका रसास्वादन करते रहें, उन मनहर चौपाइयोंका ध्यान करते रहें। उन सुन्दर चौपाइयोंमें जो श्रीवचन हैं उनका, अथवा करुणा-निधानकी जो लीला उन चौपाइयोंमें वर्णित है उसका, या जो भक्ति, ज्ञान या नीति उन चौपाइयोंमें निहित हों उनका ध्यान समय-समयपर करते रहें। इस प्रकार 'सत पंच चौपाइयों' अर्थात् 'कुछ' मनोहर चौपाइयोंको हृदयमें धारण करनेसे हमारा उस दिन सदा सत्संग चलता रहेगा। अरण्यकाण्डके अन्तमें भक्तवर तुलसीदासजीने कहा है—

करहिं सदा सतसंग—

इस 'सदा सत्संग'की केवल इसी विधानके मानसपाठ द्वारा सम्भावना है। जो सत्संग किसी अन्य व्यक्तिकी भेंट या रुचि या कृपापर निर्भर हो, वह हमारे 'सदा सतसंग' का आधार नहीं बन सकता। आजकल जब—

दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।

और

मारग सोइ जा कहुँ जो भावा।

तब सच्चे मन-चाहे सत्संगका अवसर और उसकी सम्भावना बहुत कम हो गयी है। ऐसे कलिकालमें यदि हम 'सदा सत्सग'का सौभाग्य प्राप्त करके अपना जन्म सफल करना चाहते हैं तो इसका एकमात्र उपाय यह है कि परम भागवत गोस्वामी तुलसीदासजीके इस सदुपदेशका अनुकरण करें—

सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरै॥

मूल्यवान् जीवन व्यर्थ जा रहा है

मानव-जीवन मूल्यवान यह बीता चला जा रहा व्यर्थ।
'परम अर्थ' प्रभुको कर विस्मृत, संग्रह हम कर रहे अनर्थ॥
प्रभुका चिन्तन छोड़, रात-दिन करते हम भोगोंकी याद।
बढ़ती भोगासक्ति दिनोंदिन, बढ़ते भय, भ्रम, शोक-विषाद॥
सत्पथ त्याग इसीसे चलते हम कुमार्गपर भर उत्साह।
नये-नये पापोंका संचय होता, बढ़ता नित उर-दाह॥
पता नहीं, क्या-कैसा होगा, इसका दुस्सह दुष्परिणाम।
इससे बचनेका उपाय है एकमात्र—'भजना श्रीराम'॥

कामके पत्र

(१)

भोगसे मानवजीवनमें सुख नहीं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला था । आपका यह लिखना सत्य है कि 'जगत्में नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारोंके प्रभावसे सुखके साधन बढ़े हैं। मनुष्यको आज उसकी मनचाही प्रचुर भोग-सामग्री सुलभतासे प्राप्त हो सकती है । जगत्में विद्या-शिक्षाका प्रसार भी बढ़ा है । तथापि देखा यह जाता है कि मनुष्यका दुःख और भी बढ़ा है । आज मनुष्य जितना अशान्त और दुखी है, उतना पहले नहीं था और वह अशान्ति-दुःख उत्तरोत्तर बढ़ते ही चले जा रहे हैं ।' वास्तवमें मनुष्यका आत्मा है—आनन्दस्वरूप । अतएव उसकी आनन्दकी चाह स्वाभाविक है । पर वह चाहता है—सदा रहनेवाला पूर्णतया अखण्ड आनन्द । ऐसा सम्पूर्ण तथा अखण्ड आनन्द एकमात्र भगवान्में है । भगवान् सच्चिदानन्दघन हैं । वे ही रस हैं—'रसो वै सः' । इन भगवान्के सिवा यह अन्य कहीं भी नहीं है । इस बातको न समझकर मनुष्य उन वस्तुओं, परिस्थितियोंमें आनन्द—सुख खोजता है और जैसे उत्तप्त मरुभूमिमें जलके भ्रमसे भटकनेवाला हरिन उस मरीचिकाके पीछे दौड़कर जलता-भुनता है, वैसे ही मनुष्य भी भौतिक पदार्थों—भौतिक ज्ञान-विज्ञानों एवं भौतिक भोगोंके पीछे दौड़-दौड़कर जलता रहता है । वह पाना चाहता है विशुद्ध अखण्ड परमानन्दको, और पाता है विकृत अशुद्ध 'अर्थ'के नामसे ख्यात 'अनर्थ'को—सुखके नामसे व्यक्त भीषण दुःखको।

फिर ज्यों-ज्यों भोग-सुविधा तथा भोग-वस्तुएँ बढ़ती हैं, त्यों-ही-त्यों उनकी तृष्णा और भी बढ़ती जाती है । इससे मनुष्य मनुष्यसे डाह करता है, दूसरेके भोग छीनकर स्वयं विशेष भोग-सम्पन्न बनना चाहता है । परिणाममें कमी ओर दुःख बढ़ जाते हैं । इसपर भी, मनुष्य बार-बार दुःखका अनुभव करनेपर भी उन्हीं पदार्थोंमें—परिस्थितियोंमें सुखकी खोज करता है । मरते समय चिन्ताग्रस्त, अशान्त-मानस, दुखी रहता है और नये-नये पाप बटोरकर उन्हें भोगनेके लिये देहत्याग कर चला जाता है । जगत्में यही हो रहा है और जबतक मनुष्य इस भ्रमपूर्ण भोग-सुखकी ओर दौड़ता रहेगा, तबतक उसके दुःख उत्तरोत्तर बढ़ते ही जायँगे । इस दृष्टिसे देखा जाय तो ऐसा अनुमान होता है कि विज्ञानकी चाहे जितनी उन्नति हो जाय—मानव-जीवनमें सुख नहीं होगा, वरं दुःखकी ज्वाला बढ़ती ही जायगी । आज वैज्ञानिक जगत्के उन्नतिशील देशोंमें जो अनवरत जघन्य अपराधोंकी संख्या बढ़ रही है, यह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है—शेष भगवत्कृपा ।

(२)

वर्तमान प्रगतिका परिणाम विनाश

आपका कृपापत्र मिला । मेरी समझसे इस समय जगत् विकासकी ओर नहीं, विनाशकी ओर ही जा रहा है । बुद्धि तमसाच्छादित होनेके कारण 'विनाश'को 'विकास' बताया जा रहा है । जितना ही आध्यात्मिक भावोंका ह्रास होता है और भौतिक पदार्थोंकी, भोग-सुख-सुविधाओंकी विपुलता, सुलभता, आसक्ति तथा कामना बढ़ती है, उतना ही जगत्के मानवोंमें आसुरभाव बढ़ता है, जिसमें अहंकार, मद, ममता, राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, वैर, हिंसा, प्रतिहिंसा आदि दोष, दुर्गुण, दुर्विचार और दुष्कर्म भरे रहते हैं । इस प्रकारकी आसुरभावाश्रित परिस्थितिसे अशान्ति, दुःख तथा पाप उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं, चाहे कितनी ही भौतिक-वैज्ञानिक उन्नति हो । आज जगत्में यही हो रहा है । सभी लोग ध्वंस-साधन सामग्रीके सृजन, संग्रह और प्रयोगमें लगे हैं ।

हालमें दिल्लीके सोवियत दूतावाससे रूसकी सामरिक शक्तिके सम्बन्धमें एक पुस्तिका प्रकाशित हुई है । उसमें कहा गया है कि दससे बीस मेगाटनका परमाणु बम १५ से २० किलोमीटर स्थानके सब कुछको ध्वंस कर सकता है और ऐसे ५० से १०० मेगाटन अत्यन्त शक्तिशाली बम रूसके पास हैं । इन परमाणु बमोंको ले जानेके लिये जिन राकेटोंका आविष्कार हुआ है, उनकी शक्ति भी असीम है । यह राकेट पृथिवीके वायुमण्डलको भेद करके किसी भी आबहवा, समय या कालकी बाधाको दूर हटाते हुए १५ सौ किलोमीटर ऊपरतक जा सकता है । राकेटोंकी गति-शक्ति भी पर्याप्त भयानक है । चार लाख लारियोंके केन्द्रीभूत इंजिनों-के समान चालके साथ राकेटके इंजिनकी गति-शक्तिकी तुलना की जा सकती है । इन राकेटोंके आक्रमणकी शक्ति भी सीमातीत है । पृथिवीके किसी भी स्थानसे जिस किसी वस्तुका लक्ष्य करके उसपर किसी भी प्रतिरोधकी उपेक्षा करके ये राकेट आघात कर सकते हैं ।

रूस और अमेरिकामें तो होड़ लगी है। वे इन सभी विषयोंमें एकसे दूसरा निरन्तर आगे बढ़नेकी चेष्टामें लगा है। चीन आदि अन्यान्य देश भी यथासाध्य मारणास्त्रोंके निर्माणमें संलग्न हैं। परस्पर स्पर्धा, अविश्वास, संदेह और द्वेष बढ़ते ही जा रहे हैं। कहीं किसी ओरसे जरा-सी छेड़खानी हुई कि गीतोक्त सम्मोह, स्मृतिभ्रंश और बुद्धि-नाशकी स्थितिमें मारणास्त्रोंका प्रयोग हो सकता है और इससे जगत्के प्राणी-पदार्थोंका विनाश अनिवार्य है।

आचार्यदेवो भव

(लेखक—प्रो० डॉ०—श्रीसीतारामजी झा, 'श्याम', एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आचार्यमें देवत्वकी प्रतिष्ठा करना भारतीय शिक्षापद्धतिके चरम विकासका परिचायक है। परंतु आधुनिक कालमें अधिकांश लोगोंको 'आचार्यदेवो भव' एक हास्यास्पद प्रसङ्ग प्रतीत होता है। श्रद्धा एवं भक्तिके अभावमें ऐसी धारणाका उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है। उच्छृङ्खलताका जैसा वातावरण प्रायः आज चारों ओर उपस्थित है, उसमें शिक्षकका साधारण सत्कार भी नहीं किया जाता, फिर उन्हें देव-तुल्य समझनेका प्रश्न ही नहीं उठता। यद्यपि शिक्षक भी अपने आदर्शसे विचलित अवश्य हो गये हैं, पर अभी भी सम्मानकी जिस ऊँचाईपर उनका जीवन अधिष्ठित है, लोलुप समाजकी दृष्टि उधर नहीं जा रही है। समाजके अन्य लोगोंकी तरह शिक्षकके महत्त्वको भी भौतिक सम्पदाओंके आधारपर ही आँका जाने लगा है। उन्हें देवताकी भाँति पूज्य माननेकी आवश्यकता नहीं समझी जा रही है। निश्चय ही यह हमारे सामाजिक वातावरण तथा शिक्षाप्रणालीकी पतनोन्मुखी स्थितिका सूचक है।

आदिकालसे ही आचार्योपासनाको सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओंका प्रतिरूप मानकर आराधना करनेका विधान विख्यात है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

'गुरु-गीता'में तो ईश्वर-पूजनके समस्त रूपों एवं सिद्धिके सभी प्रकारोंका मूल गुरुको ही स्वीकारा गया है। यहाँतक कि मोक्षकी प्राप्ति भी गुरु-कृपाश्रित ही समझी गयी है—

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥

वस्तुतः निखिल ब्रह्माण्डमें परिव्याप्त परमेश्वरसे साक्षात्कार करानेवाले सद्गुरु ही होते हैं। इसलिये सर्वप्रथम उनके पावन चरणोंमें दृढ़ भक्तिका होना परमावश्यक है—

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो आचार्य और ईश्वर अभिन्न हैं। सच्चे अर्थमें गुरु तो वे ही हैं जो भगवान्को पहचान चुके हैं—पा चुके हैं। जो गुरु स्वयं भगवान्से अपरिचित हैं, वे अपने शिष्यको उनसे परिचित भी कैसे करा सकते हैं? जैसा कि श्रीमद्भागवतपुराणमें निर्दिष्ट है—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः॥
(११। ३। २१-२२)

धर्मप्रधान देश भारतवर्षमें श्रेय भी उसी व्यक्तिको दिया जाता है, जो मृत्यु—अर्थात् मायान्धकारसे परित्राण दिलाकर जीवात्माको प्रकाशके प्रशस्त पथपर अग्रसारित कर सके। गुरु, माता, पिता आदिका महत्त्व एक इसी बातमें निहित है। वह गुरु गुरु नहीं, वह माता माता नहीं, वह पिता पिता नहीं, वह देवता देवता नहीं, वह पति पति नहीं जो मृत्युसे न बचा सके—

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥
(श्रीमद्भागवत ५। ५। १८)

हमारे देशमें गुरु-पूजनकी एक विशिष्ट परम्परा प्रचलित रही है। जैसे पुत्र अपने पिता, पितामह, प्रपितामह, वृद्धप्रपितामह

आदिको परम पूज्य मानकर उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति निवेदित करता है, ठीक उसी प्रकार गुरु-परम्पराके प्रति भी व्यवहार किया जाता था। जैसे—गुरु, परमगुरु (गुरुके गुरु), परापर गुरु, परमेष्ठि गुरु। इसके अतिरिक्त अन्य दृष्टियोंसे भी गुरुके अनेक भेदोपभेद किये गये हैं। यथा—शिक्षा-गुरु, दीक्षा-गुरु, लौकिक-गुरु, वैदिक-गुरु, अध्यात्म-गुरु आदि। पर सभी प्रकारके गुरुओंका कर्तव्य एक ही होता है और वह है—अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जाना। ऐसे समुद्धारकके प्रति नमन सहज स्वाभाविक है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

आजकी अपेक्षा प्राचीन कालकी शिक्षा अधिक तेजस्वी होती थी, इसे स्वीकार करनेमें प्रायः किसीको भी आपत्ति न होगी। प्रश्न है, आज तो बड़ी संख्यामें विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय खोले जा रहे हैं, फिर भी विद्याका तेज क्यों नहीं फैल रहा है? सच तो यह है कि शिक्षा और श्रद्धामें घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज श्रद्धाका तिरोभाव हो गया है, इसलिये विद्याका तेज भी मंद पड़ गया है। प्राचीन समयमें शिष्य श्रद्धापूर्वक आचार्यकी सेवा करते हुए शिक्षा प्राप्त करता था और गुरु सद्भावनासे उसे सच्ची और अच्छी विद्याएँ सिखलाते थे। इसलिये शिक्षा अपने मूल उद्देश्य चरित-विकासके साथ जीवनमें चरितार्थ होती थी। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' का महान् आदर्श ग्रहण कर शिष्य गुरुके चरणोंमें बैठकर सत्य-प्रकाशकी किरणोंको प्राप्त करते हुए अन्धकारकी सीमा-रेखाको पारकर लोक-परलोकसे अवगत होते हुए छात्रत्वको सार्थक बनाकर अपने-अपने समाजके और समस्त संसारके कल्याणकी ओर अग्रसर होता था। पाठाध्ययन प्रारम्भके पूर्व शिक्षार्थी बार-बार ईश्वरसे प्रार्थना करता था—'तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।'—तैत्तिरीयोपनिषद्—अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमेश्वर मेरे आचार्यकी रक्षा करें और मेरी रक्षा करें। उसी प्रकार पाठ आरम्भ करनेके पहले गुरु भी ईश्वरसे प्रार्थना करते थे—'तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै'।' अर्थात् गुरु-शिष्यद्वारा पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी हो तथा गुरु-शिष्य कभी भी द्वेष-भावको न लावें। इतने उच्च और पवित्र विचारसे प्रेरित होकर सीखी जानेवाली विद्या क्या कभी प्रभावशून्य हो सकती थी? क्या यह गुरुपेक्षाका ही दुष्परिणाम नहीं है कि आजके बहुसंख्यक विद्यार्थी अपना हित-साधन करनेमें भी अक्षम सिद्ध हो रहे हैं और समाज, राष्ट्र एवं विश्वके कल्याणकी कल्पना भी वे नहीं कर पाते?

वर्तमान युगमें शिक्षाके प्रति छात्र और उनके अभिभावकोंका दृष्टिकोण पूर्णतः भौतिकवादी बन गया है। वे सोचते हैं, हम शुल्क देते हैं, इसलिये शिक्षक शिक्षा देते हैं। किंतु यह धारणा वास्तवमें अनुचित है। शिक्षा खरीदनेकी वस्तु नहीं है, सीखनेकी वस्तु है और सीखनेमें श्रद्धाके पूर्ण सहयोगकी अपेक्षा है। जिस ज्ञानको सहस्रों रुपये खर्च कर नहीं प्राप्त किया जा सकता है, उसे सच्चे मनसे गुरुकी सेवा करनेपर उपलब्ध किया जा सकता है। अतएव व्यर्थके चक्करमें न पड़कर गुरुके प्रति श्रद्धा रखते हुए ज्ञानकी प्राप्तिमें समयको व्यतीत करना ही श्रेयस्कर है—

अधिगच्छति शास्त्रार्थं स्मरति श्रद्दधाति च।
यत्कृपावशतस्तस्मै नमोऽस्तु गुरवे सदा॥

जैसे यह सत्य है कि फावड़ेसे मिट्टीको कोड़नेवाला पानीको प्राप्त करेगा ही, वैसे ही यह भी ध्रुव सत्य है कि गुरुकी सेवा करनेवाला विद्यार्थी भी गुरुकी सभी विद्याओंको सीख लेनेमें सफल सिद्ध होगा—

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥
(मनुस्मृति)

आजके कतिपय छात्र अपने गुरुको प्रणाम करनेमें भी कष्ट और संकोचका अनुभव करते हैं। यही कारण है कि सभी दृष्टियोंसे उनका जीवन पतनोन्मुख होता चला जा रहा है। मनुस्मृतिके अनुसार आयु, विद्या, यश एवं बलकी वृद्धिके लिये गुरुकी सेवा ही पर्याप्त है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

यदि थोड़ी देरके लिये यह मान भी लें कि बिना गुरुकृपासे धनका संचय हो जाता है। पर उस धनके बलपर भव-सागरको कथमपि नहीं पार किया जा सकता। उसके लिये तो गुरुकी कृपाको छोड़कर कोई भी दूसरा साधन सिद्धिप्रद नहीं हो सकता। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा भी है—

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जो बिरंचि संकर सम होई॥
(उत्तरकाण्ड-रामचरितमानस)

गुरुके इसी दुर्लभ गुणके कारण कबीरदासजीने ईश्वर

और गुरुकी एक साथ उपस्थितिमें पहले गुरुको प्रणाम करना ही उचित समझा। गुरुके अभावमें ईश्वरत्वकी पहचान ही असम्भव है। ईश्वर-दर्शनका सारा श्रेय गुरुको ही है, इसलिये प्रथम नमस्य भी वे ही हैं:—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेव की, जिन गोविन्द दियो मिलाय॥

प्रस्तुत संदर्भमें यह विचारणीय है कि आजके अधिकांश छात्रोंमें गुरुके प्रति श्रद्धा क्यों नहीं दिखायी पड़ती है? इसका कोई एक कारण नहीं है। सर्वप्रथम तो भोजन, वस्त्र और आवासकी भिन्नताके कारण परस्परके व्यवहारोंमें अन्तर आ गया है। मनुस्मृतिमें इसका स्पष्ट उल्लेख है कि छात्रको चाहिये कि वह गुरुके समक्ष साधारण वस्त्र पहने, साधारण भोजन करे और साधारण ढंगसे रहे—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात् सर्वदा गुरुसंनिधौ।
उत्तिष्ठेत् प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥

आजके विद्यार्थियोंके रहन-सहनको देखते हुए ऐसे आचरणकी अपेक्षा करना निरर्थक है। चटकीले और भड़कीले वस्त्रोंको पहनना एवं गुरुकी निन्दा करना आजके बहुसंख्यक छात्रोंका स्वभाव-सा बन गया है। पहले जहाँ ऐसा विधान था कि गुरुकी निन्दासे छात्रको सदा दूर रहना चाहिये—

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥

वहाँ आजके छात्र ध्वनि-विस्तारक यन्त्रसे गुरु-निन्दाका प्रचार करते हैं और कानोंको खोलकर उनकी शिकायत सुननेमें विलक्षण रसका आस्वादन करते हैं। छात्रके लिये गुरुके समान या उच्च आसनपर बैठना भी पहले असभ्यता-का सूचक माना जाता था, पर आज तो शिक्षकको नीचा दिखानेमें बहुत-से छात्र अपना बड़प्पन समझते हैं। मनुस्मृतिका विधान है—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्॥

समान या उच्च आसनपर नहीं बैठने या उठकर खड़े होकर नमनकी बात तो दूर रहे, अब तो शिक्षकके वर्गमें जानेपर खड़े होनेके अनुशासनको भी बहुत-से छात्र पसंद नहीं करते। अवश्य ही इस प्रसंगमें शिक्षकोंके आचरणोंपर दृष्टिपात करना भी अत्यन्त प्रयोजनीय है। मेरे जानते प्रणाम, सत्कार, अभिवादन आदि माँगकर नहीं प्राप्त किये जाते। शिक्षकोंका ऐसा महान् आदर्श तथा व्यक्तित्व होना चाहिये—ऐसा बाह्य तथा आभ्यन्तरिक सात्त्विक चरित्र-बल होना चाहिये जिससे सम्मान उनके पीछे-पीछे चला करे। सम्मान शिक्षकका दूसरा नाम है, पर सम्मान त्याग खोजता है, सदाचार खोजता है, उच्च चरित्र खोजता है और महान् आत्मबल खोजता है। आजके अधिकांश शिक्षक रुपयोंपर न्योछावर हैं। रुपयोंके लोभमें वे साधारण-से-साधारण लोगोंकी खुशामद करनेमें तथा हीन व्यवहार करनेमें भी संकोचका अनुभव नहीं करते। फिर उनके आचार-विचार, आचरण, संयम, नियम आदि भी बहुत गिर गये हैं। ऐसी स्थितिमें यदि छात्र और उनके अभिभावक उनकी ऊँचाईको रुपयोंके आधारपर आँकते हैं तो आश्चर्यके लिये अवसर नहीं रह जाता है। अवश्य ही आज भी ऐसे शिक्षक हैं जिनके पीछे सम्मान दौड़ता चलता है, जो अपनी विद्वत्ता, आत्मबल, कर्मठता, त्याग एवं परोपकारके बलपर आचार्यपदको आजके उच्छृङ्खल युगमें भी गौरवान्वित कर रहे हैं। ऐसे गुरुओंको 'आचार्यदेवो भव' की दृष्टिसे देखनेमें किसीको भी संकोच-का अनुभव नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार बहुत आवश्यक है कि आजके शिक्षक भी त्याग, सत्यनिष्ठा, कर्मठता, परोपकारिता, सच्चरित्रता एवं अध्ययनशीलताका आदर्श उपस्थितकर 'आचार्यदेवो भव'—औपनिषदिक उक्तिको वर्तमान जीवनमें चरितार्थ करें।

भारतवर्षमें जातिप्रथासे लाभ

'हिंदू-विधानमें जातिविभाजन कई पहलुओंसे उत्कृष्ट व्यवस्था है—मैं ऐसा विश्वास करता हूँ। मेरी यह मान्यता है कि लोगोंके जातियोंमें विभाजित होनेके कारण ही केवल भारतवर्ष असभ्यताकी हालतमें पहुँचनेसे बचा रहा है और इसीलिये वह अपनी सभ्यताकी कला और विज्ञानको कायम रख सका है और पूर्णताकी हालतमें जा सका है, जब कि पृथ्वीकी अन्य अनेक जातियाँ असभ्यताकी हालतमें पड़ी हैं।...'

(अठारहवीं शताब्दीमें भारतमें ईसाईधर्मके प्रचारके लिये तीस वर्षसे अधिक रहकर यहाँका अध्ययन करनेवाले पादरी मि० अब्बे जे० ए० डुबवा (Mr. Abbe J. A. Dubois) की 'हिंदुओंके रीति-रिवाज और उत्सव' (Hindu Manners. Customs and Cere monies)नामक' आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस द्वारा प्रकाशित पुस्तकसे)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मानव-रत्न आज भी चमक रहे हैं

कानपुरके जैन-समाजके मकानमें एक दिन सबेरे अचानक एक भाई ऊँझासे आये। बातचीत हुई। उनका बारह वर्षका लड़का दो महीने पूर्व बिना किसीसे कुछ कहे घरसे निकल गया था। तीन-चार पत्र मिले। उनपर डाककी छाप कानपुरकी थी। इसीलिये ये भाई कानपुर आये। दो दिनोंतक बहुत खोज-तलाश की, परंतु पता नहीं लगा। तीसरे दिन स्थानीय एक पत्रमें विज्ञापन छपवाया। फोनके नम्बर दिये। रातको घंटी बजी—'आपका पुत्र मेरे पास है—'पता बतलाया—कहा 'सवेरे आकर ले जाइयेगा।' खुशीका पार नहीं रहा।

सबेरे ही हमलोग वहाँ जा पहुँचे। लड़का बड़े आनन्दमें था। सुन्दर तथा बढ़िया कपड़ोंमें, पहलेसे अधिक तन्दुरुस्त। उसकी देख-रेख रखनेवाले थे एक शिक्षक, उम्र लगभग पैंतालीस सालकी। उन्होंने हमारा बहुत सत्कार किया। तदनन्तर घटना सुनायी। 'मैं स्टेशन जा रहा था, मेरी नजर इस लड़केपर पड़ी। तीन-चार गुंडोंने घेर रक्खा था। मुझे संदेह हुआ, मैंने गुंडोंसे बात की। पहले तो वे धमकी देने लगे। मैंने पुलिसका डर बताया, तब लड़का उनके शिकंजेसे छूटा। मैं घर ले आया। अच्छी तरह खिलाया-पिलाया। उस दिन उसने सारी बातें बतायीं। मेरे भी इसीके उम्रका एक लड़का है। दोनों हिलमिल गये। लड़केकी पढ़ाई शुरू की। उसे हिंदी सिखायी।'

ऐसे आनन्दमय वातावरणको छोड़कर लड़का किसी तरह आनेको तैयार नहीं था। परंतु शिक्षक बन्धुने उसे समझाया। हमलोग उनका बड़ा आभार मानकर सौ रुपये उन्हें देने लगे। उन्होंने एक पाई भी नहीं ली, केवल इतना ही उत्तर दिया—'ऐसे तीन लड़के मेरे यहाँ आ चुके हैं। और पता नहीं, भविष्यमें कितने आयेंगे। मेरे जीवनका यह कर्तव्य है। इसका मैं जीवनभर पालन करूँगा। मेरा यह बिना माँका अबोध एकमात्र लड़का छः वर्ष पहले खो गया था। कलकत्तेकी तरफके एक छोटेसे गाँवमें एक बिल्कुल गरीब भाईने दस महीने तक इसकी सार-सँभाल की और यथासाध्य पूरी खोज-तलाश की, पता लगनेपर स्वयं साथ आकर सकुशल मेरे घर छोड़ गये। उस दिनसे ऐसे किसी छोटे बालकको अकेला अथवा ऐसी परिस्थितिमें देखता हूँ तो स्वाभाविक ही मेरे अन्तरमें सहानुभूतिकी तरंगें उठने लगती हैं।'

हमने शिक्षक बन्धुसे अनुमति माँगी, उधर लड़के और शिक्षक महोदयकी आँखें छलक उठीं। गद्गद कण्ठसे शिक्षकने कहा—'किसी समय पत्र जरूर लिखना।' फिर आभार मानकर हमलोग मन-ही-मन नमन करने लगे। अन्तरमें एक तेज रेखा उदय होकर अदृश्य हो गयी; उसके अच्छे प्रकाशमें हम इतना ही पढ़ सके—'आज भी ऐसे अनेक मानव-रत्न इस विश्वमें लुके-छिपे चमक रहे हैं।'

'अखण्ड आनन्द'—

—जेठालाल कानजी शाह

(२)

रामनामका चमत्कार

मैंने 'कल्याण' वर्ष ४३, अङ्क चार देखा। पृष्ठ ८७५ पर श्रीअखौरी अवधेशनन्दन, राँचीद्वारा प्रेषित 'प्रार्थनाका फल' पढ़ा। श्रीनन्दन हमारे अभिन्न मित्रोंमेंसे हैं। ठीक इसी प्रकारकी परिस्थिति मेरे सामने भी थी। मैं करीब २५ वर्षोंसे 'दुर्गापाठ' नित्य करता हूँ। प्रार्थनाका फल अवश्य मिलता है, यदि शुद्ध हृदय तथा विश्वासके साथ प्रार्थना की जाय। मेरी दो लड़कियाँ अविवाहित थीं। एक और लड़की जो सबसे बड़ी थी, उसका विवाह बहुत पहले हो चुका था। दूसरी लड़की डाक्टर माया पाण्डेय (अब डाक्टर माया वर्मा) जो एम्० बी० बी० एस० हैं, असैनिक शल्य चिकित्सकके पदपर १९६४ से काम कर रही है और दूसरी कुमारी वीणा पाण्डेय (.अब श्रीमती वीणा लाल) जो एम्० ए० बी० एड० है, अविवाहित थी। करीब चार-पाँच वर्षोंसे मैं इन लोगोंके लिये योग्य वरकी तलाशमें था। जहाँ जायँ, बीस-पचीस हजारकी माँग थी। इधर डाक्टर मायाका कहना था कि 'यदि तिलकका प्रश्न उठा तो मैं जन्मभर शादी नहीं करूँगी।' मेरे पास रुपये तो थे नहीं, फिर भी लड़कीकी जिद्द, जहाँ जाऊँ वहींसे निराश होकर लौटना पड़ा। मैं तो करीब-करीब निराश हो गया था; परंतु बाइबिलमें पढ़ा था कि "Marriages are arranged

in Heaven" विवाह भगवान्‌के द्वारा रचा हुआ है। इस कथनपर अटल विश्वास था। मैं खोज जारी रखते हुए प्रयत्नशील रहा।

मेरे साले श्रीमहेश्वरीसहाय, जो अवकाशप्राप्त मुन्सिफ हैं, अपने ग्राम पो० हरदिया, जिला सारनमें अपने घरपर रहते हैं। वहाँसे करीब डेढ़ मील उत्तर ग्राम सुन्दरी है। वहाँ श्रीअखलेश्वरीप्रसाद वर्माके पुत्र श्रीशरवेश्वरीप्रसाद वर्माका पता चला। करीब एक महीना वहाँ रहा, परंतु काम नहीं हुआ। मैं वहाँसे भी निराश होकर पटना चला आया।

दिनाङ्क ६-५-६८ की बात है। मैं श्रीशैलेश्वर लखेयार एडवोकेट, कदमकुआ, पटना–३ के निवासस्थानपर संत नाखून साहका प्रवचन सुन रहा था। संतजीने मुझे उदास देखा। उन्होंने कहा कि 'इधर-उधर भटकनेकी आवश्यकता नहीं है। आरामसे घरमें बैठो। जिस परिवारमें शादी होना है, वे लोग स्वयं तुम्हारे पास आयेंगे।'

उसी रात्रिको १० बजे श्रीअखलेश्वरीप्रसाद वर्मा एवं उनकी धर्मपत्नी मेरे पास आये। शादीकी बातें हुईं। बिना दहेजके शादी ठीक हो गयी। लड़कीको देखा, पसंद हो गयी और १३-५-६८ को विवाह सम्पन्न हो गया।

बात यह थी कि उनके लड़केकी शादी अन्यत्र निश्चित हुई थी, परंतु ऐन मौकेपर लड़का नकार गया। चूँकि शादी इसी वर्ष करना आवश्यक था। श्रीवर्मा और उनकी पत्नी इसीसे मेरे पास आये थे।

इस शादीमें करीब बारह हजार रुपये खर्च किये गये। अब दूसरी लड़कीका विवाह भी करना आवश्यक था। मेरे पास पूँजी भी बहुत कम, नहींके बराबर थी।

उस समय मैं गोण्डा (संताल परगना) में अपनी लड़की डाक्टर माया पाण्डेयके पास था। खबर मिली कि मुजफ्फरपुरमें एक लड़का है। मैं शीघ्र मुजफ्फरपुरके लिये रवाना हो गया। इसी यात्रामें दिनाक ४–१–६९ को रेलगाड़ी बरौनी जंक्शनमें रुकी। मैं दो सीटवाले तीसरे दर्जेके शयनकक्षमें था। इसी समय एक भद्र पुरुष मेरे समीप आकर बैठ गये। मेरी नींद टूट गयी तथा बातचीत होने लगी। यह बात निकल ही गयी कि मैं शादी ठीक करनेके लिये निकला हूँ। उन्होंने एक सीधा-सादा प्रयोग बताया— उन्होंने कहा कि "सफेद उजले कागजपर केवल 'राम' शब्द लाल स्याहीसे कागजके एक ही तरफ नित्य लिखें। जब एक लाख पचीस हजार पूर्ण हो जायँ तो गङ्गाजीको समर्पण कर दें। किसी प्रकारका नियम नहीं है, परंतु कुछ-न-कुछ नित्य लिखें। कभी नागा न हो।" इन भद्रपुरुषका नाम श्रीअवधविहारी पाठक है और ये बरौनी जंक्शनमें रेलवे गार्डका काम करते हैं।

उसी दिनसे मैंने यह प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। मुजफ्फरपुरमें शादी ठीक न हो सकी, परंतु नित्य ही प्रेरणा मिलती गयी। मैंने अपना प्रयत्न जारी रक्खा।

करीब एक चौथाई लिखनेपर २५–१–६९ को रायबरेली पहुँचा। वहाँ लड़केके अभिभावक डाक्टर श्री एस० के० सिन्हा, प्राचार्य फिरोज गांधी कॉलेजसे मिला तथा लड़के प्रोफेसर श्रीहरिशरणलालसे भी मिला। सबसे मिलनेपर मुझे तो यही अनुभव हुआ कि मानो कोई पहले ही वहाँ जाकर बातें पक्की कर आया है। इसके बाद दिनांक २८–१–६९ को लड़केकी मातासे, जो घरपर ही रहती हैं, जाकर मिला। (पो०–सैदपुर, जिला गाज़ीपुर)। उस दिन मेरा काम करीब-करीब एक तिहाई सम्पन्न हुआ था। सगुन उनको भी दे दिया और शादी करीब-करीब निश्चित हो गयी। १०–२–६९ को छेका, २–३–६९ को तिलक तथा ११–३–६९ को विवाह सम्पन्न हो गया।

इस शादीमें भी कोई लेन-देनकी बात नहीं थी। मैंने केवल रेलयात्रा इत्यादिके लिये ३०००) हजार रुपये दिये। इस विवाहमें कुल १५०००) हजार रुपये खर्च हुए।

यह रकम कहाँसे और किस प्रकार आयी, मुझे खुद मालूम नहीं होता। खर्च करते हुए मुझे मालूम होता था कि रुपया उपज रहा है। यह सब भगवान्‌की दयादृष्टिका फल है।

बोलिये दीनबन्धु प्रभुकी जय !!

पाण्डेय तारिणीप्रसाद,

—अवकाशप्राप्त अनुमंडलीय शिक्षा पदाधिकारी

पोस्ट—मड्डकपुर (आरा)

जिला—शाहबाद

(३)

ऋण चुकाया जाता है *

राजस्थानके 'क' नामक नगरमें भूराराम तेली रहता था। तेली तेलका व्यापार करता था। उस समयतक

* घटना सच्ची है। केवल स्थान तथा पात्रोंके नाम कथाके तारतम्यको बनाये रखने हेतु कल्पित रक्खे गये हैं—[लेखक—]

मशीनोंसे तेल निकालनेकी क्रिया सर्वत्र सुलभ नहीं थी। वह रात-दिन अपनी घाणी (कोल्हू) चलाकर पूरी मेहनत कर ईमानदारीसे अपने कुटुम्बका भरण-पोषण किया करता था। भ्रष्टाचारका नाम उस समयतक गली-गली, घर-घर नहीं फैला था। उसके पड़ोसके लोग तिलोंमें मिलावट कर कुछ अधिक कमानेकी कोशिश करते थे, पर भूराराम अपनी नेकी, ईमानदारीके कारण संतोषके साथ रूखी-सूखी खाकर जीवन व्यतीत कर रहा था।

उसने अपनी कन्याके विवाहके लिये निरन्तर प्रयास कर २५०) ढाई सौकी रकम बचायी थी। उस समय मँहगाईका यह भयानक रूप नहीं था। साधारण व्यक्तिका साधारण खर्च साधारण रकमसे चल जाता था। वह इस चिन्तामें था कि कोई कन्याके योग्य वर मिल जाय एवं वह कन्यादानके लाभको अनायास प्राप्त कर ले। परम पिता परमात्मासे दिनमें एक बार वह मूक प्रार्थना कर लेता था।

'अपना चीता होत नहीं प्रभु चीता तत्काल' के नियमानुसार उसके पड़ोसके रामधन महाजनकी कन्याका विवाह निश्चित हो गया। पड़ोसीने भूराराममे याचना की कि 'वह २५०) ढाई सौ रुपयेकी आर्थिक सहायता कर दे। उसके रुपये दूधमें धोकर वापस दे दिये जायँगे।' गरीबोंकी आत्मामें दया होती है। भूरारामने अपनी गाढी कमाईकी रकम पड़ोसीको दे दी। रुपयेकी न लिखापढ़ी हुई, न कोई अन्य बात। समय व्यतीत होता गया। ब्याज आदिकी भी कोई बात निश्चित नहीं हुई थी। रकम हाथ-उधारी ही दी गयी थी।

विवाहके दो मास बाद रामधन अकस्मात् बीमार पड़ा एवं कुछ ही दिनोंकी बीमारीमें वह रामका प्यारा बन गया। भूरारामकी स्त्रीने अपने पतिको बार-बार रुपयेके लिये रामधनकी विधवा स्त्रीसे बातचीत करनेके हेतु समझाया। अन्तमें एक दिन भूरारामको सही उत्तर मिल गया कि 'रुपयेकी कोई लिखापढ़ी हो तो बताओ, ताकि रुपये चुकानेका प्रबन्ध किया जाय।' कानून अन्धेकी लकड़ी है। जो उसके घेरेमें आता है उसे वह नहीं छोड़ता। भूरारामके पास न कोई रुक्का था, न कोई गवाह। वह अपना मुँह लेकर चुपचाप बैठ गया।

समय धीरे-धीरे व्यतीत हो रहा था। कन्याके विवाहकी चिन्ता उसे रात-दिन सताया करती थी। एक दिन उसके घर भैंसके एक पाडा हुआ। पाडाके तीन मुँह थे। एक बड़ा बीचमें एवं दो आस-पासमें। शहरमें हलचल मच गयी। लोग झुंड-के-झुंड उसे देखने आने लगे। ठीक उन्हीं दिनों उस शहरके पास एक माताजीका मेला लगता था। मेला केवल एक ही दिनका होता था, पर हजारों आदिवासी उस मेलेमें देवीके दर्शनार्थ आते थे। भूरारामको किसीने सलाह दी कि वह भी अपनी भैंसके पाडेकी प्रदर्शनीकी दूकान मेलेमें लगा दे। भूरारामने दस नये पैसे टिकट लगाकर दूकान लगा दी। प्रातःकालसे लेकर सायंकाल पाँच बजेतक मेला लगता था। सायंकाल ५॥ बजे भैंसके बच्चेके प्राण-पखेरू उड़ गये। भूरारामने सारे दिनकी आमदनीका जोड़ लगाया तो मेलेके टैक्सकी रकमके अलावा उसमें पूरे २५०) दो सौ पचास रुपये थे। भूरारामको किसीने उसके मनमें कहा कि 'पाडेके रूपमें रामधन ही ऋण चुका गया।'

—शिवचन्द्र 'बहुरा', वरिष्ठ अध्यापक, हा०सेकन्डरी स्कूल, डेगाना, जिला नागौर

(४)

संस्कारोंकी रक्षा

'प्रवीण सागर' नामक उत्कृष्ट काव्यग्रन्थके रचयिता ठाकुर महेरामणजीके वंशोत्तराधिकारी राजकोटके ठाकुर लाखाजी राज राजकोट सिविल स्टेशनपर राजकीय अतिथियों तथा रेलवे बोर्डके उच्च अधिकारियोंके बीच एक मजलिसमें बैठे थे।

रेशमी सोफासेटपर राजवी महानुभावोंके अतिरिक्त अंगरेज अधिकारीगण भी अपनी पत्नियोंके साथ बैठे थे।

सर लाखाजी राजको आये देखकर सब एकके बाद एक उठकर खड़े हो गये। अंगरेजोंने अपनी रिवाजके अनुसार ठाकुर साहेबसे हाथ मिलाये। उनकी मेमोंने भी पाश्चात्त्य प्रथाके अनुसार सर लाखाजी राजसे हाथ मिलाये।

चमकती पोशाक तथा आभूषण-अलंकारोंसे दीप्तिमान् हँसी बखेरते हुए सभी मेहमानोंसे मिलते हुए लाखाजी राज एक भारतीय अधिकारीसे मिले। फिर तो उन भारतीय अधिकारीकी पत्नीने मेमोंकी तरह ठाकुरके साथ हाथ मिलानेको अपना हाथ बढ़ाया, पर तुरंत ही ठाकुरने अपना हाथ बढ़ानेकी जगह उनके सामने दोनों हाथ जोड़ लिये।

उन महिलाका लंबा हाथ ऐसे ही रह गया, उसी समय ठाकुर साहेबके मुखसे ये शब्द सुनायी दिये—

'बहिन ! हमारा धर्म यह नहीं है। हमलोग आर्य हैं। हमारे संस्कार दूसरी प्रकारके हैं। पश्चिमके लोगोंका यह अनुकरण हमारे देशके संस्कारोंको लज्जित करता है। हमारी प्रथा तो परस्पर हाथ जोड़कर नमन करनेकी है।'

(५)

प्रार्थनासे रोगनाश

करीब पाँच महीने पहलेकी बात है। मेरी पत्नीके पेटमें बीमारी हो गयी। बीमारीके कारण उसे काफी तकलीफ थी। मैंने डाक्टरके यहाँ ले जाकर इलाज करवाया। सैकड़ों रुपये फीस तथा दवामें खर्च हो गये, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ।

एक दिन डाक्टर महोदयने स्पष्ट कह दिया कि हमसे इस बीमारीका इलाज नहीं हो सकेगा। आप किसी लेडी डाक्टरको दिखलाइये। मैं निराश हो गया। फिर भी मैं पत्नीको लेकर देवघर पहुँचा और वहाँ एक लेडी डाक्टरको दिखलाया। उन्होंने कहा—'बीमारी कड़ी है, इलाज होना मुश्किल है। मेरे बहुत कहने-सुननेपर उन्होंने २५०) लेकर आराम कर देनेका वचन दिया। इससे मुझको बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने स्वीकार किया और कहा कि 'मैं झाझा जाकर रुपये ला देता हूँ।' तब उन्होंने कहा—'आज दवा लिख देती हूँ। इस दवाको सात दिनतक रोज खिलाइये और आठवें दिन रुपये लेकर आ जाइये, तब मैं इलाज कर दूँगी।'

दवाका पन्ना लेकर मैं झाझा चला गया और दवा खरीदकर पत्नीको सात दिनतक खिलाता रहा। आठवें दिन मैं रुपये लेकर उनके पास पहुँचा और २५०) रुपये उनकी टेबलपर रखकर इलाज करनेको कहा।

लेडी डाक्टर महोदया मेरी पत्नीको अंदर 'परीक्षागृह' में ले गयीं और जाँच करके दस मिनटमें बाहर आकर बोलीं—'आप अपने रुपये वापस ले जाइये। मैं इनका इलाज नहीं कर सकूँगी; क्योंकि उसमें जानका खतरा है।'

अब तो मैं निराश होकर पत्नीको लेकर झाझा लौट आया।

कोई उपाय रहा नहीं, तब भगवान्का ही आसरा दिखायी दिया और सारा इलाज बंद करके मैं केवल प्रार्थना करता रहा। तीन महीनेतक मेरी यह नित्य प्रार्थना चली। भगवान् श्रीकृष्णने मेरी पुकार सुनी और मेरी पत्नीकी बीमारी मिट गयी।

यह अक्षर-अक्षर सत्य घटना है। मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि भगवान्पर पूरा भरोसा करके प्रार्थना करनेपर भारी-से-भारी काम आसानीसे हो जाता है।

—हरीराम बंका

(६)

कुछ उपयोगी नुसखे*

(१)

लकवे (पक्षाघात) के लिये एक तान्त्रिक उपाय

इस तान्त्रिक उपायका प्रयोग हजारों रोगियोंपर किया गया और प्रायः सफलता मिली है।

विधि—जिस रविवारको पुष्य नक्षत्र जितने समय हो, उसी समयके अंदर काले घोड़े (घोड़ा एकदम काला हो, किसी भी जगह दूसरा रंग नहीं होना चाहिये) के किसी भी पैरकी नाल निकलवाकर किसी लोहारसे उसका कड़ा बनाकर लकवेके रोगीके किसी भी अङ्गमें पहना दिया जाय। इसके बाद लकवेका दुबारा दौरा कतई नहीं होगा। लकवेकी सम्भावना होनेपर पहलेसे पहना दिया जाय। प्रथम बार भी दौरा नहीं होगा। इस तान्त्रिक प्रयोगसे शत-प्रतिशत लाभ होता देखा गया है।

—ब्रह्मचारी पण्डित संकर्षणाचार्य, परमार्थ-साधन औषधालय, बूढ़ा पुष्कर, अजमेर (राजस्थान)।

(२)

मिरगीकी अनुभूत दवा

एक संतने मुझको यह दवा बतलायी थी। मैंने कई रोगियोंपर इसका प्रयोग किया, सभी रोगी अच्छे हो गये। मिरगीका रोग नया या पुराना—इससे सबको लाभ होता है—

विधि—कपिला गायका दूध प्रातःकाल बासी-मुख और संध्याको जितना पी सके, ४० दिनों तक पीना चाहिये। दूध ताजा दुहा हुआ हो। उसे गरम न किया जाय और चीनी न डाली जाय। केवल छानकर पी लिया जाय। गायके थन अवश्य काले होने चाहिये। शरीर काला हो या न हो। गाय पहले ब्यानकी न हो, दूसरे या तीसरेकी

* ये सभी नुसखे हमारे परीक्षित नहीं हैं। जिनको लाभ हो, वे लिखनेकी कृपा करें। —सम्पादक

भले ही हो । ईश्वरकी कृपासे इस प्रयोगसे पूरा आराम होता है ।

इसका दूसरा लाभ यह है कि कपिला गायके कच्चे दूधको एकजिमा, दाद, खारिश आदिपर खूब मलकर गरम जलसे स्नान किया जाय तो ४० दिनके प्रयोगसे रोगी रोगमुक्त हो जाता है ।

—बाबूराम, गुप्ता मेडिकल स्टोर, सदर बाजार, जालंधर छावनी ।

(३)

श्वेतकुष्ठकी अनुभूत दवा

खानेकी दवा—बावची एक पाव, मेंहदीके बीज एक छटाँक, चित्रककी जडकी छाल एक तोला—उपर्युक्त तीनों चीजोंको कूटकर कपड़छान कर लें । दवा तैयार है । इसे तीन माशा प्रातःकाल और तीन माशा सायंकाल ताजे जलके साथ खाना चाहिये ।

लगानेकी दवा--

जायफल एक तोला, गेरू एक तोला, बावचीचूर्ण एक तोला, कालीमिर्च तीन माशे—चारों चीजोंको कूट-छानकर, पानमें खानेके चूनेके नितरे हुए पानीमें तीन घंटे घोटकर बेरके समान गोली बनाकर छायामें सुखाकर रख ले । तदनन्तर बछियाके मूत्रमें सूखी गोलीको घिसकर सफेद दागोंपर लगावे । प्रातःकाल स्नानके बाद और रात्रिको सोते समय लगाना चाहिये ।

अच्छे होनेपर कुछ दान-पुण्य अवश्य करना चाहिये । परमात्माकी दयासे इस दवाके प्रयोगसे सैकड़ों रोगियोंको लाभ हुआ है । सेवन करनेपर १५-२० दिन बाद लाभ शुरू हो जाता है । मैं उदासीन सम्प्रदायका साधु हूँ । मेरे पास ठहरनेका स्थान नहीं है । अतः कोई सज्जन आनेका कष्ट न करें ।

—शिवानन्द प्रवासी, कैलास मन्दिर, नगरा, झाँसी ।

(४)

कन्याकी जगह पुत्रप्राप्तिका प्रयोग

जिन माताओंको केवल लड़कियाँ होती हैं, उनको इसके सेवनसे पुत्र हो जाता है । ऐसा करनेपर साठ प्रतिशत सफलता मिली है—

विधि—मोरपंखका चँदवा लेकर उसके किनारोंके सारे बाल काट दें, केवल चँदवा बचे । उसे बारीक पीसकर पुराने गुड़में मिलाकर गोली बना ले । सुन्दरताके लिये चाहे ऊपरसे चाँदीका वरक लगा दें और गर्भके ७ वें से ९ वें सप्ताहमें (पौने दो माससे सवा दो मासके भीतर) रविवार या मंगलवारको दूधके साथ गोली निगलवा दी जाय । दूध बछड़ेवाली काली गायका हो और उस दिन केवल दूध ही लिया जाय । दूसरी वस्तु कुछ भी न ली जाय ।

—ओंकारमल पोद्दार, सम्बलपुर (उड़ीसा)

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क—'तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र-अङ्क'

तन्त्र, मन्त्र और यन्त्र—भारतकी प्राचीन कालसे चली आती हुई ऐसी वैज्ञानिक विद्या है, जिसमें लोक-परलोकमें सफलता, प्राणिमात्रके कल्याण तथा परमार्थ-साधन आदिके सफल साधन भरे हैं । किसी कालमें इस विद्याका यहाँ पूर्ण विकास था । दुःख है कि आज यह विद्या लुप्तप्राय है या बड़े विकृत रूपमें विद्यमान है । इस प्राचीन विद्याको जानना तथा इससे लाभ उठाना बहुत आवश्यक है, इसी अभिप्रायसे यह सोचा गया है कि 'कल्याण'का अगले वर्षका विशेषाङ्क—'तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र-अङ्क' हो । पूर्ण निश्चय हो गया तो लेखोंकी विषय-सूची 'कल्याण'के जुलाईके अङ्कमें प्रकाशित की जायगी । इस विद्याके सच्चे सफल साधक, वास्तवरूपमें जानकार तथा तन्त्र-मन्त्र-यन्त्रोंके संग्रह करनेवाले महानुभावोंसे नम्र निवेदन है कि वे कृपया अपने सच्चे अनुभवकी बातें लिखकर तथा संगृहीत मूल्यवान् सामग्री भेजकर लोक-कल्याणमें सहायक हों ।

सम्पादक—'कल्याण'

श्रीऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू, राजस्थान

(गीताप्रेसके द्वारा संचालित सांस्कृतिक शिक्षा-संस्था)

इस संस्थाकी संस्थापना लगभग ४७ वर्ष पूर्व श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रयत्नसे हुई थी। तबसे अबतक इसका कार्य चल रहा है।

इसमें—

पढ़ाई—१. आठसे ग्यारह वर्षतकके द्विज—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ब्रह्मचारी लिये जाते हैं।

२. सोलह वर्षकी अवस्थातक ब्रह्मचारीको आश्रममें रक्खा जाता है।

३. पढ़ाईमें—संस्कृत—वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयकी प्रथमा परीक्षातक।

अंग्रेजी मैट्रिकतक।

गीता १८ अध्याय—उत्तमा परीक्षातक।

वेद—रुद्री, इण्डक आदि।

संध्या अनिवार्य—ब्रह्मचारियोंके लिये उपनयन-संस्कारयुक्त होकर त्रिकाल-संध्या, गायत्री-जप तथा अग्निहोत्र करना एवं नियमित व्यायाम करना अनिवार्य है।

शुल्क—(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय ब्रह्मचारीसे ३३) और वैश्य ब्रह्मचारीसे ३५) मासिक। एक मासका शुल्क अग्रिम देना पड़ता है। इसमें शिक्षा, वस्त्र, औषध, भोजन, दूध आदि सबका व्यय शामिल है।

(२) अभिभावकोंको १००) एक सौ रुपये जमानतके रूपमें जमा कराने पड़ते हैं, जो पूरी शिक्षा प्राप्त करके निकलनेपर लौटा दिये जाते हैं। विद्यार्थीको बीचमें निकालनेपर वापस नहीं किये जाते।

इस समय आश्रममें ८ अध्यापक हैं। ३ मासतक ब्रह्मचारीको अस्थायी भर्तीमें रक्खा जाता है। तदनन्तर योग्य सिद्ध होनेपर स्थायी भर्तीमें ले लिया जाता है।

जो अपने सुयोग्य-स्वस्थ बालकको इस आश्रममें भर्ती कराना चाहें, वे निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करें। विद्यार्थी १५ अगस्ततक ही भर्ती किये जायँगे।

मन्त्री—ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू (राजस्थान)

श्रीगीता एवं श्रीरामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—ये दोनों ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। अतः धार्मिक शिक्षा-प्रचार करनेके लिये इनकी परीक्षाओंकी व्यवस्था की गयी है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है।

परीक्षाके लिये अनुमान ५०० केन्द्र स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार किये जा सकते हैं।

आगामी गीता-परीक्षाएँ दिनाङ्क २३ एवं २४ नवम्बर, १९६९ को तथा रामायणकी परीक्षाएँ दिनाङ्क ४ एवं ५ जनवरी, १९७० को होनेवाली हैं।

केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदन-पत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थना-पत्र दिनाङ्क ३० अगस्त, १९६९ तक भेज देनेकी कृपा करें। विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगा सकते हैं।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पो० स्वर्गाश्रम (पौड़ी गढ़वाल)